समयसार की समीचीन समझ

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक – C.A. जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

समयसार की समीचीन समझ

सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ

हमारे अनुभव और शास्त्रों के आधार पर हमने "समयसार" शास्त्र की सरल भाषा में समझ देने की कोशिश की है। सभी मुमुक्षुओं से हमारा अनुरोध है कि इसके ऊपर अवश्य विचार करके अपने लिये आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) आसान बनाइए यही अभ्यर्थना है।

पुस्तक का संक्षिप्त परिचय

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के पास एक ही दृष्टि है पर्यायदृष्टि। इसलिये अज्ञानी (परसमयस्थित जीव) को पर्यायमूढ़ कहा गया है। अज्ञानी के पास द्रव्यदृष्टि होती ही नहीं है। उसे ज्ञानी बनने पर ही अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करने पर ही द्रव्यदृष्टि प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो शुद्वनय (शुद्वात्मा का अनुभव) प्रकट होने पर ही द्रव्यदृष्टि प्राप्त होती है। इसलिये आचार्य अमृतचन्द्र कृत "समयसार टीका के श्लोक १३ में उन्होने आत्मानुभूति को शुद्वनयात्मक कहा है- "आत्मानुभूतिरिति शुद्वनयात्मिका या यानी आत्मानुभूति शुद्वनयात्मक होती है। शुद्वात्मा का अनुभव होने पर ही द्रव्यदृष्टि प्रकट होती है, द्रव्यदृष्टि प्रकट होने से पूर्व शुद्वात्मा का निर्णय होता ही नहीं है। अतः अज्ञानी के लिये जिस प्रकार आत्मानुभव करना साध्य (लक्ष्य) है उसी प्रकार द्रव्यदृष्टि प्रकट करना भी उसके लिये साध्य (लक्ष्य) ही है, द्रव्यदृष्टि अज्ञानी के पास वर्तमान में उपलब्ध ही नहीं है। फलतः अज्ञानी अपनी आत्मा को द्रव्यदृष्टि का प्रयोग करके न तो शुद्ध जान सकता है, न ही उसे शुद्ध मान सकता है क्योंकि जिस दृष्टि से आत्मा शुद्व जानी-मानी जाती है वह दृष्टि अज्ञानी के पास है ही नहीं।

ज्ञानी को द्रव्यदृष्टि प्रकट हो गयी है इसलिये वे आत्मा को शुद्ध जानते हैं, मानते हैं और बताते भी हैं। ज्ञानी के वचन (आगम) कहते हैं कि हम जो शुद्धात्मा का स्वरूप बता रहे हैं उसे तुम अनुभव से प्रमाणित करना क्योंकि अनुभव से पूर्व उस शुद्धात्मा को जाननेवाली दृष्टि तुम अज्ञानियों के पास नहीं है। इसलिये अनुभव से पूर्व अज्ञानी शुद्धात्मा को केवल ज्ञानी की द्रव्यदृष्टि के हवाले से ही जान सकते हैं, उसे स्वयं प्रमाण नहीं कर सकते क्योंकि अब तक उनका ज्ञान प्रमाण ही नहीं हुआ है। अर्थात् स्वयं अपनी आत्मा की शुद्धता का निर्णय नहीं कर सकते।

ज्ञानी की तरह अज्ञानी की भी त्रिकाली आत्मा है तो पूर्णत: एवं त्रिकालत: शुद्ध, परन्तु दोनों में इतना अन्तर है कि ज्ञानी के पास उस शुद्धता को देखने की (उसका अनुभव करने की) दृष्टि है, जबकि अज्ञानी के पास वह दृष्टि है ही नहीं। ज्ञानी गुरुने सभी जीवों को अपनी द्रव्यदृष्टि से शुद्ध जानकर आगम में प्रत्येक आत्मा को द्रव्यदृष्टि से शुद्ध बताया है। अज्ञानी उसे पढ़ने के बाद ज्ञानी की द्रव्यदृष्टि को ही नयाभास के कारण अपनी द्रव्यदृष्टि समझकर अपनी आत्मा को शुद्ध मानने लगता है, जबकि उसके पास अपनी आत्मा को शुद्ध देखने और जाननेवाली द्रव्यदृष्टि (शुद्धनय) है ही नहीं। उसके पास तो केवल एकमात्र पर्यायदृष्टि ही है। वह जो भी जानता है वह केवल पर्यायदृष्टि से ही जानता है। फलत: अपनी आत्मा की शुद्धता को भी अज्ञानी पर्यायदृष्टि से ही जानकर स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही शुद्ध मान लेता है। यही उसका निश्चयाभास है।

जब ऐसा मान लेने पर भी उसे स्वात्मानुभूति नहीं होती तो वह निश्चयनय से तो "मैं शुद्ध ही हूँ" इस धारणा को ही दृढ़ करता रहता है। जिससे वह उपरोक्त विधि से निश्चयाभासी ही बनता है। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक भी उसे इसी धारणा को दृढ़तर करने का ही उपदेश देते हैं। जिसके परिणामस्वरूप उसका निश्चयाभास ही पुष्ट होता रहता है। ऐसा करके वह समझता है कि मैं सम्यग्दर्शन के सन्मुख जा रहा हूँ जबकि वास्तव में वह सम्यग्दर्शन के विमुख जा रहा है। वह कहता अवश्य है कि मैं पर्यायदृष्टि से नहीं, बल्कि द्रव्यदृष्टि से शुद्ध हूँ पर उसके पास द्रव्यदृष्टि है ही नहीं, जिसके बल पर वह स्वयं को शुद्ध कह सके और मान सके। फलत: उसकी निश्चयनय से तो "मैं शुद्ध ही हूँ" यह धारणा पर्यायदृष्टि में ही स्थापित होकर दृढ़ हो जाती है। और वह स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानने लगता है, ज्ञाताद्रष्टापन का ही ध्यान भी करने लगता है। जबकि बिना आत्मानुभूति के ज्ञाताद्रष्टापन आ ही नहीं सकता क्योंकि तब तक वह केवल पर्यायदृष्टि ही है।

इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने में रागादि का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। इसलिये रागादि से विरत होने का कोई उद्यम भी नहीं करता। वस्तुत: सम्यग्दर्शन के लिये दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी चारित्रमोह का भी अभाव आवश्यक है। इसलिये आचार्य अमृतचन्द्र कृत "समयसार" टीका के श्लोक १३६ में उन्होने सम्यग्दर्शन के लिये बताया है कि "सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्ति:" यानी सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है। अज्ञानी जब स्वयं को नयाभास के कारण पर्यायदृष्टि से ही "मैं शुद्ध हूँ" ऐसा मान लेता है तो वह वैराग्य के लिये कोई भी उद्यम नहीं करता, जिससे उसमें रागादि आस्रव के प्रति हेयबुद्धि नहीं आ पाती। अत: आस्रव तत्त्व के प्रति हेयबुद्धि के बिना उसकी "मैं शुद्ध हूँ" यह दृढ़ की हुई धारणा भी आत्मज्ञान में बाधक बनती है और वह इस शुष्कज्ञान में ही अटका रहता है। यह पुन: उसके निश्चयाभासी होने को ही सिद्ध करता है।

पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चयाभासी प्रकरण में लिखा ही है कि "जिसके रागादिक होने का कुछ विषाद नहीं है, उसके नाश का उपाय भी नहीं है, उसको रागादिक बुरे हैं ऐसा श्रद्धान भी नहीं सम्भवित होता। और ऐसे श्रद्धान बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।" अज्ञानी निश्चय सम्यग्दर्शन के लिये "मैं शुद्ध हूँ, मुझमें राग

है ही नहीं, मैं राग का कर्ता नहीं" केवल ऐसा श्रद्धान होना आवश्यक मानता है, जबकि पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चयाभासी प्रकरण में निश्चय सम्यग्दर्शन के लिये रागादि मिटाने के श्रद्धान पर ही विशेष बल देते हुए कहते है कि "जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।"

ज्ञानी का अहम् शुद्धात्मा में होने से वह द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों अपेक्षाओं से राग का अकर्ता है। उसने वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर रागरहित शुद्धात्मा का अनुभव करके द्रव्यदृष्टि पायी है इसलिये वह राग का अकर्ता है। पर्यायदृष्टि से उसके अनन्तानुबन्धी राग का अभाव होने के कारण वह उस राग का अकर्ता है एवं मिथ्यात्व का अभाव होने के कारण अप्रत्याख्यानावरणीय राग के प्रति उसे कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, केवल ज्ञातादृष्टापन है। ज्ञानी स्वयं को और अज्ञानी को भी द्रव्यदृष्टि से राग का अकर्ता कहने का अधिकारी है क्योंकि उसकी द्रव्यदृष्टि प्रकट हो चुकी है। इसके विपरीत अज्ञानी दोनों ही दृष्टियों से अपने को राग का अकर्ता कहने का अधिकारी नहीं है। अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि प्रकट नहीं है इसलिये वह द्रव्यदृष्टि का प्रयोग नहीं कर सकता और "मैं राग का अकर्ता हूँ" ऐसा जान नहीं सकता, मान नहीं सकता एवं कह भी नहीं सकता। पर्यायदृष्टि से अज्ञानी को अनन्तानुबन्धी राग का सद्भाव होने के कारण वह राग का कर्ता भी है तथा उसके मिथ्यात्व का सद्भाव होने के कारण राग के प्रति उसकी कर्तृत्वबुद्धि भी है। इसलिये पर्यायदृष्टि से भी अज्ञानी "मैं राग का अकर्ता हूँ" ऐसा जान नहीं सकता, मान नहीं सकता एवं कह भी नहीं सकता।

अज्ञानी को जब निश्चयनय का उपदेश दिया जाता है तब उसके अज्ञान के कारण उसे नयाभास होता है। और अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता होने के कारण वह नयाभास से स्वयं को वर्तमान दशा (पर्याय) में ही शुद्धात्मा मानने लगता है। इससे वह निश्चयाभासरूप परिणमता है।

इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय (द्रव्यदृष्टि) के विषयभूत रागरहित शुद्धात्मा का अनुभव न होने पर भी जो साधक (अज्ञानी) अपने को राग से रहित शुद्धात्मा एवं राग का अकर्ता मानते हैं वे स्पष्ट रूप से निश्चयाभासी सिद्ध होते हैं। तथा व्यवहारनय (पर्यायदृष्टि) के विषयभूत राग का सद्भाव और राग के प्रति कर्तृत्वबुद्धि दोनों मौजूद होने पर भी जो साधक (अज्ञानी) उसका निषेध करके अपने को राग से रहित एवं राग का अकर्ता मानते हैं वे व्यवहारनय का निषेध करने के कारण एकान्त निश्चयनय के पक्षपाती सिद्ध होते है।

यह सत्य है कि निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय का निषेध किया ही जाता है पर जिसके पास निश्चयनय है वही व्यवहारनय का निषेध कर सकता है। शुद्धनिश्चयनय आत्मानुभव के काल में प्रकट होता है। इसलिये ज्ञानी का निश्चयनय ही व्यवहारनय का निषेध कर सकता है। अज्ञानी के पास तो वह निश्चयनय है ही नहीं। उसके पास तो केवल व्यवहारनय का ही अवलम्बन है। इसलिये रागादि का सद्भाव मानने और उसका अभाव करने के लिये उद्यम करने का जो उसका व्यवहार है वह तब तक अनुसरण करने लायक है जब तक आत्मानुभव के काल में निश्चयनय की अनुभूति होने से व्यवहार का निषेध नहीं हो जाता। आत्मानुभव से पूर्व अज्ञानी का यह व्यवहार भूतार्थ है, अभूतार्थ नहीं। वह व्यवहार अभूतार्थ तो तब होगा जब निश्चयनय की अनुभूति होने से उसका निषेध हो जाता है। यही कारण है कि अपरमभाव में स्थित जीवों के लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान कहा गया है। आचार्य जयसेनने "समयसार" की ११वीं गाथा की टीका में व्यवहारनय को भूतार्थ और अभूतार्थ दोनों रूपों में प्रतिपादित किया है। व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ नहीं है।

हुण्डावसर्पिणी के इस पंचमकाल की यही सबसे भयानक विडम्बना है कि वर्तमान में आत्मप्राप्ति के लिये प्रयासरत अधिकांश मुमुक्षु साधक "समयसार" का समीचीन मन्तव्य न समझ पाने के कारण अनजाने में निश्चयाभासी और निश्चयनय के पक्षपाती हो रहे हैं। "मैं शुद्ध हूँ" ऐसा "समयसार" में पढ़ने से पूर्व वे जो पंचेन्द्रिय के विषयों में एवं रागादि में रच-पचकर प्रवृत्ति कर रहे थे, "समयसार" पढ़ने के बाद भी उसमें कोई विशेष कमी नहीं आयी है इससे उनका निश्चयाभासी होना सिद्ध होता है। जीवन में वैराग्यवृत्ति उदित न होने के बावजूद भी वे "मैं शुद्ध हूँ" ऐसी धारणा को ही दृढ़ करने पर ज़ोर दिये जा रहे हैं इससे वे निश्चयनय के पक्षपाती भी सिद्ध होते हैं।

राग का सद्भाव और राग के प्रति कर्तृत्वबुद्धि दोनों होने पर भी निश्चयाभासी साधक "मैं शुद्ध हूँ, मुझमें राग नहीं है" ऐसी धारणा को ही दृढ़ कर रहे है, जिससे इन दोनों के नाश का रस्ता ही बन्द हो गया है। फलतः वे "समयसार" पढ़कर भी समीचीन समझ न होने से सम्यक्त्व के सन्मुख होने के बजाय सम्यक्त्व से विमुख होते जा रहे हैं।

"समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। हालाँकि, कुछ निश्चयाभासी प्रचारक अज्ञानियों को भी निश्चयनय का उपदेश दे रहे हैं। यदि कोई इस "समयसार" शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना और कई अन्य लोगों का वर्तमान और अनन्त भविष्य बरबाद करना नहीं चाहते हैं, तो इस पुस्तक में बताई गयी बातों की सही समझ को ग्रहण करना आवश्यक है। उन्हें स्वयं पर दया लाते हुए सत्य को समझना चाहिये, सत्य उपदेश को आत्मसात करना चाहिये और दूसरों को भी वही सत्य उपदेश देना चाहिये। निश्चयाभास से तो अनंतकाल तक भी कल्याण नहीं होता।

कई लोग प्रश्न करेंगे कि जब अज्ञानी किसी भी दृष्टि से अपनी शुद्धता को जान ही नहीं सकता तो उसे प्रकट करने के लिए प्रेरित क्यों होगा? इस शास्त्र में अज्ञानी को प्रेरित करने के लिये ज्ञानी की अनुभूति का वर्णन दिया गया है। ऐसा है कि जब कोई भी जीव सुख की खोज़ में या परमसत्य की खोज़ में लगता है तो वह स्वयमेव वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होता है और आगे स्वानुभूति पाता है। यहाँ आचार्य भगवान्ने अप्रतिबुद्ध को वैराग्यादि योग्यता पाकर स्वात्मानुभूति करने को प्रेरित किया है। आचार्य भगवान्ने यह भी बताया है कि उस आत्मानुभूति को इस शास्त्र से प्रमाणित करना।

"समयसार" की जिन गाथाओं, टीकाओं और कलशों को पढ़कर ऐसे जीव अपने निश्चयाभास को पुष्ट कर रहे हैं उन गाथाओं का समीचीन आशय हम आगम, युक्ति एवं अपने आत्मानुभव के आधार पर आगे स्पष्ट कर रहे हैं, ताकि उन्हें उनकी समीचीन समझ हो सके और वे वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त कर आत्मसन्मुखता की दिशा में उद्यम कर सकें।

यदि जिनवाणी के विरुद्ध हमारे द्वारा कुछ भी लिखा गया है तो त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

अब पंच परमेष्ठि भगवान को नमस्कार करके "समयसार की समीचीन समझ" का प्रारम्भ कर रहे है।

श्लोकार्थ :—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि [**समयसारव्याख्यया एव**] इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या (टीका) से ही [**मम अनुभूतेः**] मेरी अनुभूतिकी अर्थात् अनुभवनरूप परिणतिकी [**परमविशुद्धिः**] परम विशुद्धि (समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) [**भवतु**] हो। कैसी है यह मेरी परिणति? [**परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात्**] परपरिणतिका कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से [**अविरतम् अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः**] जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है। और मैं कैसा हूँ? [**शुद्ध-चिन्मात्रमूर्तेः**] द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। (3)

"समयसार" शास्त्र ज्ञानी की परिणति की परम विशुद्धि के लिये है। अज्ञानी की परिणति रागादि परिणामों से व्याप्त होने के कारण मैली है।

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं —

(हरिगीतिका छन्द)

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति पाये हुए सब सिद्धको
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित कहूँ समयप्राभृतको अहो ॥१॥

गाथार्थ :—[**ध्रुवाम्**] ध्रुव, [**अचलाम्**] अचल और [**अनौपम्यां**] अनुपम—इन तीन विशेषणोंसे युक्त [**गतिं**] गतिको [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए [**सर्वसिद्धान्**] सर्व सिद्धोंको [**वन्दित्वा**] नमस्कार करके [**अहो**] अहो! [**श्रुतकेवलिभणितम्**] श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित [**इदं**] यह [**समयप्राभृतम्**] समयसार नामक प्राभृत [**वक्ष्यामि**] कहूँगा। (1)

गाथार्थ :—हे भव्य! [**जीवः**] जो जीव [**चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः**] दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो रहा है [**तं**] उसे [**हि**] निश्चयसे (वास्तवमें) [**स्वसमयं**] स्वसमय [**जानीहि**] जानो [**च**] और जो जीव [**पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं**] पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित है [**तं**] उसे [**परसमयं**] परसमय [**जानीहि**] जानो। (2)

यहाँ ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की व्याख्या की गयी है। साथ ही इस ग्रन्थ का विषय "ज्ञानी की अनुभूति" दर्शाई है।

गाथार्थ :—[**तम्**] उस [**एकत्वविभक्तं**] एकत्वविभक्त आत्माको [**अहं**] मैं [**आत्मनः**] आत्माके [**स्वविभवेन**] निज वैभवसे [**दर्शये**] दिखाता हूँ; [**यदि**] यदि मैं [**दर्शयेयं**] दिखाऊँ तो [**प्रमाणं**] प्रमाण (स्वीकार) करना, [**स्खलेयं**] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [**छलं**] छल [**न**] नहीं [**गृहीतव्यम्**] ग्रहण करना। (5)

अर्थात् वैसे आत्मा का अनुभव करके प्रमाण करना, मात्र शब्दों द्वारा ग्रहण नहीं करना। न ही उस शाब्दिक वर्णन के अनुसार अपनी वर्तमान पर्याय को ही शुद्ध मान लेना! परन्तु अनेकों निश्चयाभासी उपदेशक साधकों (अज्ञानियों) को जो कि नियम से पर्याय का ही वेदन करते हैं, स्वयं को निश्चयस्वरुप मान लेने की प्रेरणा देते दिखते हैं। यह वर्तमान काल की सबसे भयानक विडम्बना है। साधकों के पास त्रिकालशुद्धस्वरुप का अनुभव न होने के कारण वे नयाभास से अपने को वर्तमान पर्याय में ही शुद्ध मानने लग जाते हैं। यह बहुत ही भयंकर भूल है।

टीका :—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्माका निजवैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। कैसा है मेरे आत्माका निजवैभव? इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंका प्रकाशक और 'स्यात्' पदकी

मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म—अर्हन्तका परमागम—उसकी उपासनासे जिसका जन्म हुआ है। ('स्यात्'का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकारसे-किसी अपेक्षासे-कहना। परमागमको शब्दब्रह्म कहनेका कारण यह है कि—अर्हन्तके परमागममें सामान्य धर्मोंके—वचनगोचर समस्त धर्मोंके—नाम आते हैं और वचनसे अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है; इसप्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिए उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) पुनः वह निजवैभव कैसा है? समस्त विपक्ष—अन्यवादियोंके द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्षके निराकरणमें समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्तिके अवलम्बनसे उस निजवैभवका जन्म हुआ है, पुनः वह कैसा है? निर्मल विज्ञानघन आत्मामें अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु-सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनके प्रसादरूपसे दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्वका अनुग्रहपूर्वक उपदेश उससे निजवैभवका जन्म हुआ है। पुनः वह कैसा है? निरन्तर झरता हुआ—स्वादमें आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रासे युक्त प्रचुरसंवेदनरूप स्वसंवेदनसे निजवैभवका जन्म हुआ है। यों जिस-जिस प्रकारसे मेरे ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखाता हूँ। मैं जो यह दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणोंमें चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें सावधान मत होना। (शास्त्रसमुद्रके बहुतसे प्रकरण हैं, इसलिए यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिए अर्थकी परीक्षा करनी चाहिए।) (5)

निजवैभव कैसा है? उसका आस्वादन लेकर उसका निर्णय करना होता है। केवल शब्दों द्वारा ग्रहण करके स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही वैसा मानकर छल ग्रहण नहीं करना है। यह बात अनेकों लोग नहीं जानते। इसलिये वे दूसरों को भी वैसा शुद्ध मान लेने का ही उपदेश देते हैं।

भावार्थ :—आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, पर और अपर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन—यों चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओं! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरणमें भूल जाऊँ तो उतने दोषको ग्रहण मत करना। कहनेका आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूपका निश्चय करो।।५।।

आचार्य भगवन्त अपना अनुभव दर्शाते हैं और हमें उसी की प्राप्ति कर चकासने को कहते हैं। यों ही मान लेने को नहीं कहते। वे अपने अनुभव का वर्णन करके बताते हैं कि स्वानुभूति कैसी होती है। उसकी प्राप्ति कर प्रमाण करने को कहते हैं यों ही नहीं मान लेना है। यों ही मान लेने से कदाचित एक भव में अच्छा लग भी सकता है परन्तु अनन्त काल का दुःख नहीं टल सकता।

गाथार्थ :—[ज्ञानिनः] ज्ञानीके [चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्] चारित्र, दर्शन, ज्ञान—यह तीन भाव [व्यवहारेण] व्यवहारसे [उपदिश्यते] कहे जाते हैं; निश्चयसे [ज्ञानं अपि न] ज्ञान भी नहीं

है, [चरित्रं न] चारित्र भी नहीं है और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [ज्ञायकः शुद्धः] शुद्ध ज्ञायक ही है। (7)

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याय भी द्रव्यके ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? उसका समाधान यह है :— यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिसे अभेदको प्रधान करके उपदेश दिया है। अभेददृष्टिमें भेदको गौण कहनेसे ही अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है। इसलिये भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है। यहाँ यह

अभिप्राय है कि भेददृष्टिमें निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प होते रहते हैं; इसलिये जहाँ तक रागादिक दूर नहीं हो जाते वहाँ तक भेदको गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होनेके बाद भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है वहाँ नयका आलम्बन ही नहीं रहता ॥७॥

यहाँ आचार्य भगवन्त ने भेद को व्यवहार कहा है। इसलिये यहाँ अभेद यानी निश्चय और भेद यानी व्यवहार समझना है। अनुभव में कोई भेद नहीं होता इसलिये कहा है कि ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायक ही होता है। दूसरे, इस शास्त्र के एकान्त अर्थघटन के प्रचार से अनेक लोग उसे शस्त्ररूप बना देते हैं। अनेक लोग निश्चयनय को शब्दों से ग्रहण करते हैं। बल्कि उससे उनका अभिप्राय नहीं बदलता इसलिये ज्ञान (सम्यग्दर्शन) नहीं होता।

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [अनार्यः] अनार्य (म्लेच्छ) जनको [अनार्यभाषां विना तु] अनार्यभाषाके बिना [ग्राहयितुम्] किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिये [न अपि शक्यः] कोई समर्थ नहीं है [तथा] उसीप्रकार [व्यवहारेण विना] व्यवहारके बिना [परमार्थोपदेशनम्] परमार्थका उपदेश देना [अशक्यम्] अशक्य है। (8)

भावार्थ :—लोग शुद्धनयको नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है; किन्तु वे अशुद्धनयको ही जानते हैं, क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है; इसलिये वे व्यवहारके द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं। अतः व्यवहारनयको परमार्थका कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ व्यवहारका आलम्बन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहारका आलम्बन छुड़ाकर परमार्थमें पहुँचाते हैं,—यह समझना चाहिये ॥८॥

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :—

यहाँ आचार्य भगवन्त कहते हैं कि अज्ञानी जन शुद्धनय को जानते ही नहीं। तथापि यदि कोई उपदेशक उन्हें शुद्धनय का उपदेश दे और उन्हें कहे कि "आप तो शुद्ध ही हैं, मान लीजिये। ऐसा मान लेने से आपको सम्यग्दर्शन हो सकता है।" यही वर्तमान काल की भयानक विडम्बना है। उन्हें त्रिकालशुद्धस्वरूप का अनुभव न होने के कारण वे नयाभास से अपने को वर्तमान पर्याय में ही शुद्ध मानने लग जाते हैं जो कि भयंकर भूल है।जबकि यहाँ आचार्य भगवन्त यह जानकर कि अज्ञानी जनों को शुद्धनय का अनुभव नहीं होता है, उन्हें व्यवहारनय द्वारा उपदेश देने को कहते हैं जिससे कि यदि किसी अज्ञानी में वैराग्यादि योग्यताएँ विद्यमान हों तो वह अज्ञानी भी शुद्धात्मा का अनुभव कर ज्ञानी बन सके। यही उपदेश की सच्ची रीति है। परन्तु जो इस सच्ची रीति को नहीं जानते वे अनजाने में ही अनेकों जीवों के अकल्याण में निमित्त बनते हैं। ऐसे उपदेशक भी निश्चयनय के पक्षधर होते हैं यह बात उनकी इस मान्यता से सिद्ध हो

जाती है। ऐसे उपदेशकों में से कई तो स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं क्योंकि वे जिनसे सीखे हैं उनकी भी यही स्थिति होती है। और उनके वैसे गुरु उन उपदेशकों को ज्ञानी की पदवी भी दे देते हैं। इसी प्रकार परम्परा से यह ग़लतफ़हमी फैल रही है।

भावार्थ :—जो श्रुतज्ञानसे अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है। और जो सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसने भी ज्ञानको जाननेसे आत्माको ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहनेवाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। और परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्माको प्रगटरूपसे कहता है, ऐसा जानना चाहिए ॥९-१०॥

अर्थात् निश्चयनय अनुभवगोचर है। उसे वचनों के माध्यम से बताना भी व्यवहार है परन्तु वर्तमान में अनेक उपदेशक तो शब्दों से निश्चयनय का वर्णन करके स्वयं को भी निश्चयमय मान लेते हैं और दूसरों को स्वयं को निश्चयमय मानने का उपदेश देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें वस्तुतः यह उपदेश देना आवश्यक है कि निश्चय अनुभवगोचर है। इसके लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ अत्यन्त आवश्यक हैं। इसलिये सर्वप्रथम उन वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। केवल स्वयं को निश्चयसमान मान लेने से काम नहीं होगा। उससे तो निश्चयाभास ही होगा।

गाथार्थ :—[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [शुद्धनयः] शुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है, ऐसा [दर्शितः] ऋषीश्वरोंने बताया है; [जीवः] जो जीव [भूतार्थं] भूतार्थका [आश्रितः] आश्रय लेता है वह जीव [खलु] निश्चयसे (वास्तवमें) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है। (11)

टीका :—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थको प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान, सत्य, भूत अर्थको प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्तसे बतलाते हैं :—जैसे प्रबल कीचड़के मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है, ऐसे जलका अनुभव करनेवाले पुरुष—जल और कीचड़का विवेक न करनेवाले (दोनोंके भेदको न समझनेवाले)—बहुतसे तो उस जलको मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथसे डाले हुवे [१]कतकफलके पड़ने मात्रसे उत्पन्न जल-कादवकी विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपनेसे, उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसीप्रकार प्रबल कर्मोंके मिलनेसे, जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले पुरुष—आत्मा और कर्मका विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्माको) जिसमें भावोंकी विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनयको देखनेवाले) अपनी बुद्धिसे डाले हुवे शुद्धनयके अनुसार बोध होनेमात्रसे उत्पन्न आत्म-कर्मकी विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक (11)

यहाँ आचार्य भगवन्तने ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का फ़र्क़ समझाया हैं। अनेक अज्ञानी ज्ञानी की भाषा बोलकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें विमोहित हृदयवाला कहा है। इसलिये यह समझना है कि निश्चय की अनुभूति करनी होती है। उसका अनुभव किये बिना केवल ज्ञानी की भाषा जानकर उसे दोहराकर अथवा मानकर स्वयं को धोखा नहीं देना चाहिये। अनादिकाल से हमने अनेकों बार ऐसी भूल की है।

ज्ञायकभावत्वके कारण उसे (आत्माको) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफलके स्थान पर है, इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनयका सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है। (11)

जो ज्ञानी नहीं है अर्थात् जिसे शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं हुई हो वे नियम से पर्यायदृष्टि होते हैं, यानी वे अज्ञानी होते हैं। फिर भी ऐसा जीव स्वयं को शुद्धनय से शुद्ध समझता है। तभी वह अज्ञान के कारण, नयाभास की वजह से अपने वर्तमान पर्याय को ही शुद्ध मान लेता है। ऐसी त्रुटिपूर्ण समझ उसके मोक्षमार्गप्रवेश में बहुत बड़ी बाधा प्रस्तुत करती है। इस शास्त्र के ऐसे त्रुटिपूर्ण अर्थघटन से लोग अपने संसार को अनन्तकाल के लिये बढा देते है और अनन्त दुःखो का आरक्षण कर लेते है।

उसका उपदेश भी विरल है—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरुने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है कि—''शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहारमें मग्न है तब तक आत्माके ज्ञानश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।'' ऐसा आशय समझना चाहिए॥११॥

हमारी पुस्तक "सम्यग्दर्शन की विधि" को पढ़कर बहुत से लोग हमारे पास शिकायत लेकर आते हैं कि आपने लोगों को सम्यग्दर्शन की अत्यंत सरल विधि बताकर उनपर उपकार किया है बल्कि ऐसा करने से हमें स्वानुभूति तो नहीं होती। हम उन्हें बताते हैं कि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना निश्चयनय को मात्र शब्दों में धारण करने से स्वात्मानुभूति संभव ही नहीं है। यही कारण है कि हमने उक्त पुस्तक के चौबीसवें प्रकरण में सम्यग्दर्शन के लिये योग्यताओं को विस्तार से बताया है। उस योग्यता का बार-बार अभ्यास करना है ताकि आत्मा वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त कर सके। उसी के बाद में "सम्यग्दर्शन की विधि" में वर्णित सम्यग्दर्शन प्राप्ति की विधि कारगर होगी। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना केवल निश्चयनय को मात्र शब्दों में ही मानने से आपका काम होना शक्य ही नहीं है। दूसरा, अनेक जीव अनादि से भेदरूप व्यवहार में ही लगे हुए हैं। जैसे कि अपने गुणों के वर्णन में या शक्तियों के वर्णन में अथवा द्रव्य-पर्याय को भिन्न मानकर पर्यायरहित द्रव्य की खोज में जो कि नहीं पाया जाता। व्यवहार से दी गयी समझ वह निश्चय (अनुभव) पाने के लिये है। अन्यथा यह व्यवहार नहीं, व्यवहाराभास ही है।

अब, ''यह व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है; इसलिये उसका उपदेश है'' यह कहते हैं:—

गाथार्थ :—[परमभावदर्शिभिः] परमभावके देखनेवालेको तो [शुद्धादेशः] शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करनेवाला [शुद्धः] शुद्धनय [ज्ञातव्यः] जानने योग्य है; [पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरमभावमें [स्थिताः] स्थित हैं वे [व्यवहारदेशिताः] व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। (12)

यहाँ आचार्य भगवंत ने बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञानी के लिये एक शुद्धनय ही प्रयोजनभूत है। जबकि अज्ञानियों के लिये वह उपयोगी नहीं है। अज्ञानी के लिये, जिस स्तर पर वह है उस स्तर से शुद्धात्मा के अनुभव के लिये

आवश्यक व्यवहारनय का उपदेश प्रयोजनभूत है। आजकल बहुत से लोग सामने बैठे व्यक्ति की योग्यता के स्तर को न देखकर सभी को शुद्ध निश्चयनय का उपदेश ही देते हैं। उनका मानना है कि केवल निश्चयनय का ही उपदेश देने योग्य है। इसके परिणामस्वरूप कई लोग निश्चयाभासरूप परिणमते हैं कि जो इन जीवों के लिये अंतहीन पीड़ा के आरक्षण समान है। यह वर्तमान समय की भयानक विडम्बना है। इसी लिये करुणावश यह लिखा है। कई उपदेशक व्यवहारनय को केवल उपचारात्मक (व्यर्थ-झूठा) मानकर केवल निश्चयनय के ही पक्षपाती होते हैं। इससे उनको निश्चयनय का एकान्त पक्ष है यह साबित होता है। वे स्वयं भी निश्चयाभासी ही हैं यह भी सिद्ध है।

टीका :—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान (वस्तुके) उत्कृष्ट भावका अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकोंकी परम्परासे पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध स्वर्णके समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिए, शुद्धद्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने अविचल अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपरकी एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण वर्ण) के समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परपम्परासे पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो (वस्तुका) अनुत्कृष्ट मध्यम (भाव) उसका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय, विचित्र (अनेक) वर्णमालाके समान होनेसे, जाननेमें आता (–ज्ञात होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है। इसप्रकार अपने अपने समयमें दोनों नय कार्यकारी (12)

यहाँ शुद्धनय को प्रकट किया है यह बताया है। उसका अर्थ है कि शुद्धात्मा का अनुभव किया। इस शास्त्र में शुद्धनय का अर्थ है शुद्धात्मा की अनुभूति। निश्चयनय को मात्र शब्दों में गयण करना नहीं बताया, बल्कि उसका अनुभव करने को कहा है।

हैं, क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है। अन्यत्र भी कहा है कि :—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।"

[**अर्थ** :—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों! यदि तुम जिनमतका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—इन दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ–व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तु)का नाश हो जायेगा।]

भावार्थ :—लोकमें सोनेके सोलह वान (ताव) प्रसिद्ध हैं। पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोगकी कालिमा रहती है, इसलिए तब तक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिम तावसे उतरता है तब वह सोलह-वान या सौ टंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन्हें सोलहवानवाले सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रह-वान तकका सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलह-वानवाले शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तब तक पन्द्रह-वान तकका सोना भी प्रयोजनवान है। इसी प्रकार यह (12)

जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्‌गलके संयोगसे अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है। उसका समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्रका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति—यह तीनों जिन्हें हो गये हैं, उन्हें पुद्‌गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलबका) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहां तक यथार्थ ज्ञानश्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई हो, वहां तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिनवचनोंको कहनेवाले श्री जिन-गुरुकी भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान–ज्ञान तो हुए है; किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत–महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उस प्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका (12)

यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में आचार्य भगवान कहते हैं कि अज्ञानी के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं का उपदेश देना आवश्यक है क्योंकि उन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना केवल शब्दों में निश्चय को समझकर स्वात्मानुभूति प्राप्त करना संभव नहीं है। इसलिये अज्ञानी को उन वैराग्यादि योग्यताओं को यत्नपूर्वक प्राप्त करने का उपदेश देना चाहिये। क्योंकि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना केवल निश्चयनय को धारण करने से सम्यदर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है। अनेक उपदेशक अज्ञानियों को भी निश्चयनय का ही उपदेश देते प्रतीत होते हैं जो कि ग़लत है। यही यहाँ सिद्ध होता है। अत: यदि ऐसे उपदेशक सही मार्ग को समझ लें और उसके अनुसार उपदेश दें तो उनका तथा अनेक साधकों का कल्याण अवश्य हो सकता है। इसके लिये हमने “निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि” विषय पर एक लेख भी लिखा है। इसे पढ़ना और समझना बहुत ज़रूरी है।

अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनयका उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है। *व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोगमें ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है॥१२॥

निश्चयनय द्वारा आत्मा के स्वरूप का जो वर्णन है वह अभी भी प्रकट (अनुभव) किया जा सकता है। परन्तु यह सोचना उचित नहीं है कि मैं वर्तमान अवस्था (पर्याय) में ही ऐसा हूँ। परन्तु बहुत से लोग इस बात को न समझकर तथा स्वयं अज्ञानी होने के कारण नियम से पर्यायदृष्टि होने के कारण स्वयं को वर्तमान स्थिति (पर्याय) में ही शुद्ध मान लेते हैं। और वही उपदेश भी देते हैं। इसलिये यह समझना चाहिये कि निश्चयस्वरूप अज्ञानी के लिये प्रकट नहीं होता। बल्कि अज्ञानी को उस रूप को प्रकट (अनुभव) करने का उपदेश देने योग्य है।

श्लोकार्थ :—[उभय-नय विरोध-ध्वंसिनि] निश्चय और व्यवहार—इन दो नयोंके विषयके भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला [स्यात्-पद-अङ्के] 'स्यात्'-पदसे चिह्नित जो [जिनवचसि] जिन भगवानका वचन (वाणी) है उसमें [ये रमन्ते] जो पुरुष रमते हैं (-प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) [ते] वे [स्वयं] अपने आप ही (अन्य कारणके बिना) [वान्तमोहाः] मिथ्यात्वकर्मके उदयका वमन करके [उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं] इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्माको [सपदि ईक्षन्ते एव] तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध आत्मा [अनवम्] नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु पहले कर्मोंसे आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरूप हो गया है। और वह [अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्] सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निर्बाध है। (4)

श्लोकार्थ :—[व्यवहरण-नयः] जो व्यवहारनय है वह [यद्यपि] यद्यपि [इह प्राक्-पदव्यां] इस पहली पदवीमें (जब तक शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक) [निहित-पदानां] जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको, [हन्त] अरेरे! [हस्तावलम्बः स्यात्] हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, [तद्-अपि] तथापि [चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां] जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावोंसे रहित (शुद्धनयके विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्गमें अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते हैं उन्हें [एषः] यह व्यवहारनय [किञ्चित् न] कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है। (5)

श्लोकार्थ :—[अतः] तत्पश्चात् [शुद्धनय-आयत्तं] शुद्धनयके आधीन [प्रत्यग्-ज्योतिः] जो भिन्न आत्मज्योति है [तत्] वह [चकास्ति] प्रगट होती है [यद्] कि जो [नव-तत्त्व-गतत्वे अपि] नवतत्त्वोंमें प्राप्त होने पर भी [एकत्वं] अपने एकत्वको [न मुंचति] नहीं छोड़ती। (7)

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रकट होता है। अतः उसे प्रकट मानने का उपदेश अत्यंत त्रुटिपूर्ण ही कहा जाता है।

भूतार्थनय अर्थात् शुद्धनय का अनुभव करें यह कहा है। केवल मानने को नहीं कहा है। अगर ऐसा है तब तो हमें नौ पूर्वों की जानकारी से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाना चाहिये था। क्योंकि नौ पूर्वों में इससे भी कई गुना निश्चयनय की जानकारी होगी और हमने नौ पूर्वों की जानकारी तो कई बार अर्जित की है, ऐसा भगवानने बताया है। यदि उतनी अधिक जानकारी से भी हमारा काम यानी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो अब कैसे होगा? हमारी यह ग़लतफ़हमी हमें तुरन्त ही दूर करनी चाहिये। इससे जानकारी तो बढ़ेगी परन्तु वैराग्यादि योग्यताओं के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो दुर्लभ ही रहेगी। इस समझ के अभाव में ही निश्चयाभासी उपदेशकों को निश्चयनय का पक्ष बना रहता है। उसी से सम्यग्दर्शन होगा ऐसा मानकर वे इसी का प्रचार करते हैं। वह शब्दरूपी लड्डू के भोजन समान है कि जिससे हम कभी भी तृप्त नहीं हो पायेंगे। इसी तरह मात्र शब्दरूपी निश्चयनय से कभी भी आत्मकल्याण संभव ही नहीं है। यह बात निश्चयाभासी उपदेशकों को समझनी चाहिये। वे धर्म के नाम से उनके जैसे कई और निश्चयाभासिओं को जन्म दे रहे हैं। वास्तव में मोक्षमार्ग अनुभूति का ही मार्ग है।

गाथार्थ :—[भूतार्थेन अभिगताः] भूतार्थ नयसे ज्ञात [जीवाजीवौ] जीव, अजीव [च] और [पुण्यपापं] पुण्य, पाप [च] तथा [आस्रवसंवरनिर्जराः] आस्रव, संवर, निर्जरा, [बन्धः] बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष [सम्यक्त्वम्]—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं। (13)

टीका :—ये जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ नयसे जाने हुवे सम्यग्दर्शन ही हैं (-यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थकी (व्यवहार धर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थ (व्यवहार)नयसे कहे जाते हैं ऐसे ये नवतत्त्व—जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं—उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—उसकी प्राप्ति होती है। (शुद्धनयसे नवतत्त्वोंको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है, इस हेतुसे यह नियम कहा है।) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला—दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला—दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक)—दोनों संवर हैं, निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला—दोनों निर्जरा हैं, बन्धनेके योग्य और बन्धन करनेवाला—दोनों बन्ध हैं और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला—दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, (13)

भूतार्थनय से नौ तत्त्वों को जानना ही सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्वों में छिपी हुई शुद्धात्मा की अनुभूति से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। दूसरे, यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया गया है। उसे न मानना ग़लत ही होगा।

आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दोमेंसे एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टिसे देखा जाये तो :—जीव-पुद्गलकी अनादि बन्धपर्यायके समीप जाकर एकरूपसे अनुभव करनेपर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; (वे जीवके एकाकार स्वरूपमें नहीं हैं;) इसलिये इन नव तत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार अन्तर्दृष्टिसे देखा जाये तो :—ज्ञायक भाव जीव है और जीवके विकारका हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष—ये जिनके लक्षण हैं ऐसे केवल जीवके विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष—ये विकारहेतु केवल अजीव हैं। ऐसे यह नवतत्त्व, जीवद्रव्यके स्वभावको छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसी एक द्रव्यकी पर्यायोंके रूपमें अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व कालमें अस्खलित एक जीवद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिये इन नवों तत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह, एकत्वरूपसे प्रकाशित होता हुआ, शुद्धनयरूपसे अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्माकी पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है—बाधा रहित है। (13)

भूतार्थनय अर्थात् शुद्धनय का अनुभव करें यह कहा। केवल मानने को नहीं कहा। यदि कोई अज्ञानी बिना अनुभव के इसे स्वीकारता है तो वह नियम से पर्यायदृष्टि होने के कारण स्वयं को पर्याय से ही वैसा मानने लगता है, जो कि महामिथ्यात्व है। इसलिये केवल मानने के बजाय, वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करके शुद्धात्मा का अनुभव करने का

पुरुषार्थ करना चाहिये। अतः उपदेश वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मा का अनुभव करने के लिये ही दिया जाना चाहिये।

यहाँ, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[इति] इसप्रकार [चिरम् नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः] नव तत्त्वोंमें बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति [उन्नीयमानं] शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट की गई है, [वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव] जैसे वर्णोके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्णको बाहर निकालते हैं। [अथ] इसलिए अब हे भव्य जीवों! [सततविविक्तं] इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, [एकरूपं] एकरूप [दृश्यताम्] देखो। [प्रतिपदम् उद्योतमानम्] यह (ज्योति), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है। (8)

भावार्थ :—यह आत्मा सर्व अवस्थाओंमें विविधरूपसे दिखाई देता था, उसे शुद्धनयने एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिये अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धिका एकान्त मत रखो—ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है।८।

जहाँ भी शुद्धनय का उपदेश दिया है, वहाँ उसका अनुभव करने के लिये कहा है। केवल मान लेने को नहीं कहा। वास्तव में मोक्षमार्ग अनुभूति का ही मार्ग है।

टीका :—अब, जैसे नवतत्त्वोंमें एक जीवको ही जानना भूतार्थ कहा है, उसीप्रकार, एकरूपसे प्रकाशमान आत्माके अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चयसे अभूतार्थ हैं, उनमें भी आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदोंसे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं)। उनमेंसे पहले, प्रमाण दो प्रकारके हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। [१]उपात्त और [२]अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चितरूपसे प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है। वह पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उनमेंसे मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है। इसलिये यह दो प्रकारके प्रमाण हैं।) वे दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और जिसमें सर्व भेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकारके हैं —द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहां द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतासे अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायका मुख्यतासे अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्यायका पर्यायसे (भेदसे, क्रमसे) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और द्रव्य तथा पर्याय दोनोंसे अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीवके (चैतन्यमात्र) स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेपके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तुमें जो गुण न हो उस गुणके नामसे (व्यवहारके लिए) वस्तुकी संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है। 'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका प्रतिनिधित्व स्थापित करना (–प्रतिमारूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है। वर्तमानसे अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो द्रव्य (8)

इस समयसार शास्त्र में जो भी निश्चयनय बताया गया है वह अनुभव की अपेक्षा से बताया गया है। अर्थात् यह अनुभूति के विषय का ग्रन्थ है। गाथा ९६ की टीका बताती है कि यदि कोई बिना अनुभव के मान ले तो क्या होगा? इसमें भैंसे का उदाहरण देकर बताया गया है कि साधक जिसका ध्यान करता है वह स्वयं को वैसा ही मानने लगता है। भैंसे पर ध्यान करनेवाला साधक स्वयं को भ्रम से भैंसा मानने लगा। इसी प्रकार निश्चयनय के वर्णन के अनुसार स्वयं को शुद्ध, अकर्ता, अपरिणामी, राग-द्वेषरहित माननेवाला अज्ञानी व्यक्ति भ्रमवश वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को ऐसा मानने लगता है। वह तो निश्चयाभास ही है। यही इस ग्रंथ के अर्थघटन का सबसे बड़ा ख़तरा है। इसी लिये इतना कुछ लिखना पड़ा है।

निक्षेप हे। वर्तमान पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपोंका अपने-अपने लक्षणभेदसे (विलक्षणरूपसे—भिन्न भिन्न रूपसे) अनुभव किये जानेपर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और भिन्न लक्षणसे रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभावका अनुभव करनेपर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसप्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपोंमें भूतार्थरूपसे एक जीव ही प्रकाशमान है। (8)

भावार्थ :—इन प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विस्तारसे कथन तद्विषयक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये; उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है। वे साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं, क्योंकि वे ज्ञानके ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तुको चाहे जैसा साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहारके अभावकी तीन रीतियाँ हैं : प्रथम अवस्थामें प्रमाणादिसे यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान-श्रद्धानकी सिद्धि करना; ज्ञान-श्रद्धानके सिद्ध होनेपर श्रद्धानके लिए प्रमाणादिकी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके आलम्बनसे विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; उससे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके पश्चात् प्रमाणादिका आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्थामें प्रमाण-नय-निक्षेपका अभाव ही है। (8)

इस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि—[अस्मिन् सर्वंकषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते] इन समस्त भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयके विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेज:पुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर [नयश्रीः न उदयति] नयोंकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, [प्रमाणं अस्तम् एति] प्रमाण अस्त हो जाता है [अपि च] और [निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः] निक्षेपोंका समूह कहां चाला जाता है सो हम नहीं जानते। [किम् अपरम् अभिदध्मः] इससे अधिक क्या कहें? [द्वैतम् एव न भाति] द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। (9)

भावार्थ :—भेदको अत्यन्त गौण करके कहा है कि—प्रमाण, नयादि भेदकी तो बात ही क्या? शुद्ध अनुभवके होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि—अन्तमें परमार्थरूप तो अद्वैतका ही अनुभव हुआ। यही हमारा मत है; इसमें आपने विशेष क्या कहा? इसका उत्तर :—तुम्हारे मतमें

सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मतमें नयविवक्षा है जो कि बाह्य वस्तुका लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभवसे विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानन्दको प्राप्त होता है, इसलिये अनुभव करानेके लिए यह कहा है कि ''शुद्ध अनुभवमें द्वैत भासित नहीं होता''। यदि बाह्य वस्तुका लोप किया जाये तो आत्माका भी लोप हो जायेगा और शून्यवादका प्रसङ्ग आयेगा। इसलिए जैसा तुम कहते हो उसप्रकारसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती, और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धाके बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है वह भी मिथ्यारूप है; शून्यका प्रसङ्ग होनेसे तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुमके अनुभवके समान है।९।

जो लोग एकान्त निश्चयनय की ही प्ररूपणा करते हैं उन्हें यहाँ समझाया है कि जिस भी स्तर पर जो भी उपदेश आवश्यक हो उसे दें। किसी भी प्रकार का कोई एकान्त उपदेश नहीं देना चाहिये। हमारे यहां कहा गया है कि निश्चयनय का एकान्त उपदेश वेदांती बना देगा। जो लोग द्रव्य को कुठस्थ मानते हैं, उन्हें यह समझना चाहिये कि यदि द्रव्य परिणामी नहीं है तो द्रव्य का ही लोप हो जायेगा।

आगे शुद्धनयका उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**शुद्धनयः आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति**] शुद्धनय आत्मस्वभावको प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभावको [**परभावभिन्नम्**] परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विभाव—ऐसे परभावोंसे भिन्न प्रगट करता है। और वह, [**आपूर्णम्**] आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूपसे पूर्ण है—समस्त लोकालोकका ज्ञाता है—ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञानमें भेद कर्मसंयोगसे हैं, शुद्धनयमें कर्म गौण हैं)। और वह, [**आदि-अन्त-विमुक्तम्**] आत्मस्वभावको आदि-अन्तसे रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदिसे लेकर जो किसीसे उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसीसे जिसका विनाश नही होता, ऐसे पारिणामिक भावको वह प्रगट करता है)। और वह, [**एकम्**] आत्मस्वभावको एक—सर्व भेदभावोंसे (द्वैतभावोंसे) रहित एकाकार—प्रगट करता है, और [**विलीनसंकल्पविकल्पजालं**] जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पके समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्योंमें अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है।१०।

उस शुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं :—

यहाँ कहा गया है कि शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रकट करते हुए उत्पन्न होता है। इससे यह समझना है कि शुद्धनय को प्रकट करना है। यह मात्र शब्दों और मान्यताओं में रखने की बात नहीं है। उससे तो नयाभास व निश्चयाभास ही होता है। कोई अनुभव नहीं। क्योंकि अज्ञानी का नय का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। वह केवल नयाभास ही होता है। वस्तुतः आत्मा के अनुभव के लिये वैराग्यादि योग्यताएँ होना परम आवश्यक है। इसे समझना और इसके लिये पुरुषार्थ करना ज़रूरी है। मात्र मान लेने से काम नहीं चलेगा। इसलिये जो उपदेशक शुद्धनय को मान लेने को कहते हैं या उसका ध्यान करने को कहते हैं या उसका रट्टा लगाने को कहते हैं, वे वास्तव में तो नयाभास और निश्चयाभास में ही जी रहे हैं ऐसा हमें लगता है। शुद्धनय यानी आत्मा की अनुभूति।

गाथार्थ :—[**यः**] जो नय [**आत्मानम्**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टम्**] बन्ध रहित और परके स्पर्शसे रहित, [**अनन्यकं**] अन्यत्व रहित, [**नियतम्**] चलाचलता रहित, [**अविशेषम्**] विशेष रहित, [**असंयुक्तं**] अन्यके संयोगसे रहित—ऐसे पांच भावरूपसे [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे, हे शिष्य! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान। (14)

टीका :—निश्चयसे अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्माकी जो अनुभूति सो शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्माकी अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं।) यहां शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है :—बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं, इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बातको दृष्टान्तसे प्रगट करते हैं — (14)

"निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है" ऐसा कहा। ऐसा मान लेना शुद्धनय है ऐसा नहीं कहा गया है। इसलिये, जो उपदेशक कहते हैं कि 'शुद्धनय से आप शुद्ध हैं इस पर विश्वास करें और केवल उसी का ध्यान करें ताकि आपको शुद्धात्मा का अनुभव हो', उनके ज्ञानी होने पर ही संदेह पैदा होता है। क्योंकि उन्हें यह पता होना चाहिये कि अज्ञानी नियम से पर्यायदृष्टि है, वह केवल पर्याय को ही वेदन करता है। अतः उसे शुद्धनय का कोई अनुभव नहीं है। यदि वह अज्ञानी शुद्धनय से भी अपने को शुद्ध मानता है, तो वह नयाभास के कारण अपने वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को शुद्ध मानता है। जो उसके स्वयं के सम्यग्दर्शन के पुरुषार्थ में बाधक बन जाता है। इससे उसका पुरुषार्थ ख़त्म हो जाता है। यह एक करुणाजनक तथ्य है।

जैसे कमलिनी-पत्र जलमें डूबा हुआ हो तो उसका जलसे स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जलसे किंचित्मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्रके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादि कालसे बँधे हुए आत्माका, पुद्गलकर्मोंसे बंधने—स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि पुद्गलसे किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

तथा जैसे मिट्टीका, कमण्डल, घड़ा, झारी, सकोरा इत्यादि पर्यायोंसे अनुभव करनेपर अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (–सर्व पर्यायभेदोंसे किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टीके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, नारक आदि पर्यायोंसे अनुभव करनेपर (पर्यायोंके अन्य-अन्यत्वरूप) अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (–सर्व पर्यायभेदोंसे किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक चैतन्याकार आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। (14)

जैसे समुद्रका, वृद्धिहानिरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदोंसे अनुभव करनेपर अनियतता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे सुवर्णका, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर (14)

यहाँ कहा गया है कि "आत्मस्वरूप के समीप जाकर अनुभव करनेपर बद्धस्पृष्टादि अभूतार्थ है-असत्यार्थ हैं।" उसमें "अनुभव करनेपर" शब्द एकान्त निश्चयाभासी उपदेशकों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। वे निश्चयनय को मात्र मान लेने का विषय बनाने की प्ररुपणा-प्रवचन करते हैं। जबकि "समयसार" शास्त्र उसे अनुभव करने के लिये कहता है। इसी लिये हम कहते हैं कि सभी जीव शुद्धनिश्चयनय से त्रिकाल शुद्ध हैं। इसका मतलब यह है कि अज्ञानी जीव अभी भी शुद्धात्मा का अनुभव कर सकते हैं यदि आत्मा में वैराग्यादि योग्यताएँ मौजूद हों तो। अज्ञानी वर्तमान पर्याय में शुद्ध नहीं है। और इसी लिये अज्ञानियों को उपदेश देते समय हम उनसे आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने के पुरुषार्थ पर ज़ोर देने के लिये कहते हैं। जिसे वे निश्चयाभासी उपदेशक व्यवहार का पक्ष मानने की ग़लती करते हैं। ज्ञानी की बातें उन्हें उभयाभास जैसी लगती हैं।

दूसरे, यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति आत्मसन्मुखता प्राप्त करता है और सोचता है, पढ़ता है या सुनता है कि "जो यह जाननेवाला (ज्ञायक) है वह मैं ही हूँ" या "जैसे कोई देखनेवाला महल के झरोखे से बाहर देखता है तो झरोखा नहीं देखता वैसे ही आँख नहीं देखती लेकिन उसके पीछे जो देखनेवाला है वह देखता है, और वह मैं ही हूँ"। यदि ऐसे प्रमाणभूत सूत्र से भी जिस जीव को अनुभूति न हो तो समझ लें कि उस जीव में वैराग्यादि योग्यताओं का अभाव है। अत: ऐसे जीव को हमारी पुस्तक "सम्यग्दर्शन की विधि" के चौबीसवें प्रकरण में वर्णित "सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता" का प्रयोगात्मक अभ्यास करना चाहिये। परन्तु यदि वह जीव बिना योग्यता के निश्चयनय को मान लेता है तो वह जीव नियम से निश्चयाभासी ही हो जायेगा। यही इस ग्रन्थ का ग़लत अर्थघटन है।

विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्ण स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे जलका, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णताके साथ संयुक्ततारूप तप्ततारूप -अवस्थासे अनुभव करनेपर (जलको) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णताके साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोहके साथ संयुक्ततारूप अवस्थासे अनुभव करनेपर संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। (14)

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि चूँकि अज्ञानी को विशेष का ही अनुभव होने के कारण, अपनी राग-द्वेषमयता का अनुभव उसके लिये स्वाभाविक है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है। फिर भी, जब निश्चयभासी उपदेशक उन्हें निश्चयनय का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि आप राग-द्वेष के साक्षी बनकर उसे देखो या कहते हैं कि आप स्वरूप से शुद्धात्मा हैं, आप परमपुरुष हैं, आप अबद्धस्पृष्ट हैं, आदि। तब वह अज्ञानी नयाभास के कारण और केवल पर्याय का अनुभव होने के कारण अपने को वर्तमान पर्याय में ही शुद्धात्मादि मानने लगता है। यहाँ भी यही बताया गया है कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना कोई भी जीव शुद्धनय का अनुभव नहीं कर सकता। इससे यह समझना होगा कि शुद्धनय अनुभव का विषय है। मात्र शब्दों की बात नहीं।

यहां यह समझना चाहिए कि वस्तुका स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्‌गलके संयोगसे होते हैं। जो कर्मके संयोगसे होते हैं, उनसे तो आत्माकी सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्सम्बन्धी जो सुख-दुःखादि होते हैं उन्हें भोगता है। यह, इस आत्माकी अनादिकालीन अज्ञानसे पर्यायबुद्धि है; उसे अनादि-अनन्त एक आत्माका ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञका आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे यह बताया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड नित्य और अनादिनिधन है। उसे जाननेसे पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्तसे होनेवाले अपने विभावोंसे अपने आत्माको भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कर्म बन्ध नहीं होता और संसारसे निवृत्त हो जाता है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनयको सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनयको सत्यार्थ कहा है, इसलिए अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वेदान्तमतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायेगा और उससे मिथ्यात्व आ जायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियोंकी भांति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिये सर्व नयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे ही सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिए, मुख्य-गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है, परन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना। (14)

यहाँ कहा गया है कि "परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावोंसे अपने आत्मा को भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये कर्म बन्ध नहीं होता.." यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जब व्यक्ति शुद्धात्मा का अनुभव करता है तो उसके (अभिप्राय में) परभावरूप परिणमन रुक जाता हैं। निश्चयभासी उपदेशकों के उपदेश के अनुसार, स्वयं को शुद्धात्मा, परमपुरुष, अबद्धस्पृष्ट, अबंधस्वरुपा, साक्षी आदि मान लेने से परद्रव्य के भावरूप परिणमन रुकता नहीं। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना शुद्धात्मा की प्राप्ति संभव नहीं है। दूसरे, जो लोग निश्चयनय के एकान्त पर ज़ोर देते हैं, उन्हें यह भी

समझाया गया है कि स्वात्मानुभूति के बाद ज्ञानी को निश्चयनय का भी आलम्बन नहीं रहता। अतः ज्ञानी अभिप्राय में नयातीत ही होता है। बल्कि चूँकि ज्ञानी में इस तरह से कोई भी नय का आग्रह नहीं होने के कारण, कई निश्चयाभासी जीव ज्ञानी को उभयाभासी समझने की भूल करते हैं। तीसरे, यहाँ कहा गया है कि "इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है, इसलिये अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वेदांतमतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायेगा और उससे आ जायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। (यही हाल आज के निश्चयाभासी लोगों का है) इसलिये सर्व नयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे ही सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है, परन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।" निश्चयाभासी व्यक्तियों एवं निश्चयाभासी उपदेशकों को यह समझना अति आवश्यक है। और इस बात को समझते हुए स्वयं को और दूसरों को गुमराह करना बन्द करना होगा। अन्यथा यहाँ स्पष्ट रूप से उन्हें जिनमतबाह्य कहा है। इसका ध्यान रखें।

यहाँ, इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु] जगतके प्राणी इस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि [यत्र] जहाँ [अमी बद्धस्पृष्टभावादयः] यह बद्धस्पृष्टादिभाव [एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि] स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं तथापि वे [प्रतिष्ठाम् न हि विदधति] (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं। [समन्तात् द्योतमानं] यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। [अपगतमोहीभूय] ऐसे शुद्ध स्वभावका, मोह रहित होकर जगत अनुभव करो; क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहां तक रहता है वहां तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता। (11)

भावार्थ :—यहां यह उपदेश है कि शुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो।११।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है :—

श्लोकार्थ :—[यदि] यदि [कः अपि सुधीः] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव [भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं] भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालके कर्मबन्धको अपने आत्मासे [रभसात्] तत्काल–शीघ्र [निर्भिद्य] भिन्न करके तथा [मोहं] उस कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को [हठात्] अपने बलसे (पुरुषार्थसे) [व्याहत्य] रोककर अथवा नाश करके [अन्तः] अन्तरङ्गमें [किल अहो कलयति] अभ्यास करे—देखे तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा [आत्म-अनुभव-एक-गम्य महिमा] अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा [व्यक्तः] व्यक्त (अनुभवगोचर), [ध्रुवं] निश्चल, [शाश्वतः] शाश्वत, [नित्यं कर्म-कलङ्क-पङ्क-विकलः] नित्य कर्मकलङ्क-कर्दमसे रहित—[स्वयं देवः] ऐसा स्वयं स्तुति करने योग्य देव [आस्ते] विराजमान है। (12)

भावार्थ :—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सर्व कर्मोंसे रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरङ्गमें स्वयं विराजमान है। यह प्राणी—पर्यायबुद्धि बहिरात्मा—उसे बाहर ढूँढ़ता है यह महा अज्ञान है।१२।

यहाँ भी मोहरहित होकर अनुभव करने के लिये कहते हैं। सबसे पहले उस मोह को मन्द करने की साधना करें। वह साधना स्वयं को मोहरहित मानने से या स्वयं को शुद्धात्मा मानने से नहीं होगी। उसके लिये बारह भावनाएँ, चार भावनाएँ, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), स्वयं के परिणामों को चकासना आदि पुरुषार्थ आवश्यक है।

अब, 'शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानकी अनुभूति है' इसप्रकार आगेकी गाथाकी सूचनाके अर्थरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**इति**] इसप्रकार [**या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः**] जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है [**इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूतिः**] वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है [**इति बुद्ध्वा**] यह जानकर तथा [**आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य**] आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके, [**नित्यम् समन्तात् एकः अवबोध-घनः अस्ति**] 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' इसप्रकार देखना चाहिये। (13)

भावार्थ :—पहले सम्यग्दर्शनको प्रधान करके कहा था; अब ज्ञानको मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनयके विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है।१३।

यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही सम्यग्ज्ञान है।" इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धनय का विषय शब्दों में पकड़ना नहीं है, बल्कि अनुभव करना है।

गाथार्थ :—[**यः**] जो पुरुष [**आत्मानम्**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टम्**] अबद्धस्पृष्ट, [**अनन्यम्**] अनन्य, [**अविशेषम्**] अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) [**पश्यति**] देखता है वह [**सर्वम् जिनशासनं**] सर्व जिनशासनको [**पश्यति**] देखता है,—कि जो जिनशासन [[1]**अपदेशसान्तमध्यं**] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है। (15)

टीका :—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पांच भावस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञानकी अनुभूति ही आत्माकी अनुभूति है। परन्तु अब वहाँ, सामान्य ज्ञानके आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष (ज्ञेयाकार) ज्ञानके तिरोभाव (आच्छादन)से जब ज्ञानमात्रका अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभवमें आता है तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त हैं उन्हें वह स्वादमें नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्तसे बतलाते हैं :—

जैसे—अनेक प्रकारके शाकादि भोजनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सामान्य लवणके तिरोभाव और विशेष लवणके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला जो (सामान्यके तिरोभावरूप और शाकादिके स्वादभेदसे भेदरूप-विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक-लोलुप

मनुष्योंको आता है, किन्तु अन्यकी सम्बन्धरहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थसे देखा जाये तो, विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इसप्रकार— अनेक प्रकारके ज्ञेयोंके आकारोंके साथ मिश्ररूपतासे उत्पन्न सामान्यके तिरोभाव और विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला जो (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान है वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवोंको स्वादमें आता है, किन्तु अन्यज्ञेयाकारकी संयोगरहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप ज्ञान वह स्वादमें नहीं आता; और परमार्थसे विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आता है वही ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आता है। अलुब्ध ज्ञानियोंको तो, जैसे सैंधवकी डली, अन्यद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल सैंधवका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्वके कारण क्षाररूपसे स्वादमें आती है उसीप्रकार आत्मा भी, परद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल आत्माका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनताके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है। (15)

भावार्थ :—यहाँ आत्माकी अनुभूतिको ही ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयोंमें ही—इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही—लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञानके विषयोंसे अनेकाकार हुए ज्ञानको ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं, परन्तु ज्ञेयोंसे भिन्न ज्ञानमात्रका आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानका ही आस्वाद लेते हैं,—जैसे शाकोंसे भिन्न नमककी डलीका क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार गुणगुणीकी अभेद दृष्टिमें आनेवाला सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, अपनी पर्यायोंमें एकरूप, निश्चल, अपने गुणोंमें एकरूप, परनिमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव, ज्ञानका अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका अनुभवन है। शुद्धनयसे इसमें कोई भेद नहीं है॥१५॥

यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी सामान्य का अनुभव करते हैं जबकि अज्ञानी विशेष का अनुभव करते हैं।

श्लोकार्थ :—[प्रमाणतः] प्रमाणदृष्टिसे देखा जाये तो [आत्मा] यह आत्मा [समम् मेचकः अमेचकः च अपि] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रित्वात्] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे तो त्रित्व (तीनपना) है और [स्वयम् एकत्वतः] अपनेसे अपनेको एकत्व है। (16)

भावार्थ :—प्रमाणदृष्टिमें त्रिकालस्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्माको भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिए।१६।

एकमात्र आत्मा का ही सेवन करने को निश्चय कहा है। इसका सेवन शब्दों के बजाय अनुभव से करना है। सेवन करना यानी अनुभव करना। अनादि से हमने अनन्त बार शब्दों से सेवन किया है पर कभी कल्याण नहीं हुआ।

श्लोकार्थ :—[**एकः अपि**] आत्मा एक है, तथापि [**व्यवहारेण**] व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो [**त्रिस्वभावत्वात्**] तीन-स्वभावरूपताके कारण [**मेचकः**] अनेकाकाररूप ('मेचक') है, [**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः**] क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंरूप परिणमन करता है। (17)

व्यवहारीजन पर्यायमें–भेदमें समझते हैं, इसलिये यहां ज्ञान, दर्शन, चारित्रके भेदसे समझाया है।१९।

यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भेद व्यवहार है और अभेद निश्चय है। क्योंकि अनुभव अभेद का ही होता है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबालगोपाल सबके सदाकाल स्वयं ही अनुभवमें आनेपर भी अनादि बन्धके वश पर (द्रव्यों)के साथ एकत्वके निश्चयसे मूढ–अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे, अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके श्रद्धान समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावोंके भेदसे आत्मामें निःशंक स्थिर होनेकी असमर्थताके कारण आत्माका आचरण उदित न होनेसे आत्माको नहीं साध सकता। इसप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्ति है। (17-18)

यहाँ कहा गया है कि "...मूढ-अज्ञानी जनको...आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे, अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके श्रद्धान समान है इसलिये, श्रद्धान भी उदित नहीं होता..।आत्माको नहीं साध सकता।" इससे यह सिद्ध होता है कि चूँकि अज्ञानी को आत्मा की अनुभूति नहीं होने के कारण, उसके आत्मस्वरूप का श्रद्धान भी गधे के सींगों के श्रद्धान के समान है। कई निश्चयाभासी उपदेशक केवल निश्चयनय के ही उपदेश पर ज़ोर देते हैं क्योंकि वे न तो इसे जानते हैं और न ही इसपर श्रद्धान करते हैं। यदि कोई ज्ञानी उन्हें ऐसा करने से रोकता है, तो वे निश्चयाभासी उपदेशक जो स्वयं को ज्ञानी मान लेते हैं, उन्हें वह ज्ञानी उभयाभासी लगता है। क्योंकि वे अज्ञानी होने के कारण इस बात से अनभिज्ञ हैं। दूसरे, कई लोग शुद्धात्मा का ध्यान कराते हैं और उसे ही सम्यक्ध्यान कहते हैं। वे इस तथ्य से भी अनभिज्ञ हैं कि न जानी हुई वस्तु का ध्यान गधे के सींग के ध्यान की तरह है, इसलिये वह ध्यान भ्रमपूर्ण मिथ्याध्यान ही है। केवल आर्तध्यान ही है।

श्लोकार्थ :—आचार्य कहते हैं कि—[**अनन्तचैतन्यचिह्नं**] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [**इदम् आत्मज्योतिः**] इस आत्मज्योतिका [**सततम् अनुभवामः**] हम निरन्तर अनुभव करते हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु**] उसके अनुभवके बिना अन्य प्रकारसे साध्य आत्माकी सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति ऐसी है कि [**कथम् अपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्**] जिसने किसी प्रकारसे त्रित्व अङ्गीकार किया है तथापि जो एकत्वसे च्युत नहीं हुई और [**अच्छम् उद्गच्छत्**] जो निर्मलतासे उदयको प्राप्त हो रही है। (20)

भावार्थ :—आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टिसे त्रित्व प्राप्त है तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टिसे जो एकत्वसे रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयको प्राप्त

हो रही है ऐसी आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं। यह कहनेका आशय यह भी जानना चाहिए कि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे, जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें।२०।

टीका :—अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिये वह ज्ञानका नित्य सेवन करता ही है; तब फिर उसे ज्ञानकी उपासना करनेकी शिक्षा क्यों दी जाती है? उसका समाधान यह है :—ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूप है तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञानका सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरेके बतानेसे जानना)—इन कारणपूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। (या तो काललब्धि आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने—जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।) यहां पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जाननेके कारणसे पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि उसे सदैव अप्रतिबुद्धत्व है? उसका उत्तर :—ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है। (17-18)

अब यहां पुनः पूछते हैं कि—यह आत्मा कितने समय तक (कहाँ तक) अप्रतिबुद्ध रहता है वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं :—

यहाँ सम्यग्दृष्टि की स्वात्मानुभूति का वर्णन है। जो इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी है कि अज्ञानी को ज्ञानी की अनुभूति बताना। जबकि एक ज्ञानी अपनी अनुभूति को सत्यापित-प्रमाणित कर सकता है। और अज्ञानी को अपने साध्य का निर्धारण कराता है। यह बात समझ नहीं पाने से अनेक लोग इस ग्रन्थ का सही अर्थघटन न कर पाने की वजह से निश्चयाभासी बन जाते है।

गाथार्थ :—[**यावत्**] जब तक इस आत्माकी [**कर्मणि**] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म [**च**] और [**नोकर्मणि**] शरीरादि नोकर्ममें [**अहं**] 'यह मैं हूँ' [**च**] और [**अहकं कर्म नोकर्म इति**] मुझमें (-आत्मामें) 'यह कर्म-नोकर्म हैं'—[**एषा खलु बुद्धिः**] ऐसी बुद्धि है, [**तावत्**] तब तक [**अप्रतिबुद्धः**] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [**भवति**] है। (19)

टीका :—जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावोंमें तथा चौड़ा तल, बड़ा उदर आदिके आकार परिणत हुये पुद्गलके स्कन्धोंमें 'यह घट है' इसप्रकार, और घड़ेमें 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़ा तल, बड़ा उदर आदिके आकाररूप परिणत पुद्गल-स्कंध हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे अनुभूति होती है, इसीप्रकार कर्म–मोह आदि अन्तरङ्ग (परिणाम) तथा नोकर्म—शरीरादि बाह्य वस्तुयें—कि जो (सब) पुद्गलके परिणाम हैं और आत्माका तिरस्कार करनेवाले हैं—उनमें 'यह मैं हूँ' इसप्रकार और आत्मामें 'यह कर्म—मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म—शरीरादि बहिरङ्ग, आत्म-तिरस्कारी (आत्माका तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है; और जब कभी, जैसे रूपी दर्पणकी स्व-परके आकारका प्रतिभास करनेवाली स्वच्छता ही है और उष्णता तथा ज्वाला अग्निकी है इसीप्रकार अरूपी आत्माकी तो अपनेको और परको जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गलके हैं, इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेशसे जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा। (19)

ज्वाला दिखाई देती है वहां यह ज्ञात होता है कि ''ज्वाला तो अग्निमें ही है, वह दर्पणमें प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पणमें दिखाई दे रही है वह दर्पणकी स्वच्छता ही है''; इसीप्रकार ''कर्म-नोकर्म अपने आत्मामें प्रविष्ट नहीं हैं; आत्माकी ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं, इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं''—ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्माको या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेशसे हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।।१९।।

श्लोकार्थ :—[ये] जो पुरुष [स्वतः वा अन्यतः वा] अपनेसे ही अथवा परके उपदेशसे [कथम् अपि हि] किसी भी प्रकारसे [भेदविज्ञानमूलाम्] भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्माकी [अचलितम्] अविचल [अनुभूतिम्] अनुभूतिको [लभन्ते] प्राप्त करते हैं, [ते एव] वे ही पुरुष [मुकुरवत्] दर्पणकी भांति [प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावैः] अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावोंसे [सन्ततं] निरन्तर [अविकाराः] विकाररहित [स्युः] होते हैं,—ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकारको प्राप्त नहीं होते।२१।

यहाँ कहा गया है कि जो जीव भेदविज्ञान से आत्मा की अनुभूति करता है, वह ज्ञानी है। ज्ञानी केवल सामान्य का ही अनुभव करते हैं और इसलिये उनका एकत्व विकाररहित भाव में ही होता है। अतः वे अभिप्राय में रागादि विकार को प्राप्त नहीं हैं। यहाँ यदि कोई निश्चयाभासी जीव यह समझे कि हमारे अंदर रागादि नहीं है, तो उसे अवश्य ही अनन्त संसारी जानना।

श्लोकार्थ :—[जगत्] जगत् अर्थात् जगत्के जीवो! [आजन्मलीढं मोहम्] अनादि संसारसे लेकर आज तक अनुभव किये गये मोहको [इदानीं त्यजतु] अब तो छोड़ो और [रसिकानां रोचनं] रसिक जनोंको रुचिकर, [उद्यत् ज्ञानम्] उदय हुआ जो ज्ञान उसका [रसयतु] आस्वादन करो; क्योंकि [इह] इस लोकमें [आत्मा] आत्मा [किल] वास्तवमें [कथम् अपि] किसीप्रकार भी [अनात्मना साकम्] अनात्मा(परद्रव्य)के साथ [क्व अपि काले] कदापि [तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न] तादात्म्यवृत्ति (एकत्व)को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि [एकः] आत्मा एक है वह अन्य द्रव्यके साथ एकतारूप नहीं होता। (22)

यहाँ वे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में अज्ञानियों को उपदेश देते हैं कि "अनादि संसारसे लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो..." निश्चयाभासी उपदेशकों की भाँति यह उपदेश नहीं दिया जाता कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है।

भावार्थ :—यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य—दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवानने देखा है; इसलिये हे अज्ञानी! तू परद्रव्यको एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थकी मान्यतासे बस कर।।२३-२४-२५।।

यहाँ वे अज्ञानियों को बहुत स्पष्ट शब्दों में अनुभूति प्रकट करने का उपदेश देते हैं कि "जड़ और चेतनद्रव्य-दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं...; इसलिये हे अज्ञानी! तू परद्रव्यको (अभिप्राय से) एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थकी मान्यतासे बस कर।" निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह, कोई ऐसा उपदेश नहीं है कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है। ज्ञानी समझता है कि अज्ञानी जहाँ खड़ा है वहीं से उसे ज्ञान में लाना है, इसलिये वह उसी प्रकार उपदेश देता है। जबकि निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानतावश सीधे शुद्धनिश्चयनय का ही उपदेश देते हैं। जो निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता का ही प्रतीक है। उनकी अज्ञानता का ही प्रमाण है।

श्लोकार्थ :—[अयि] 'अयि' यह कोमल सम्बोधनका सूचक अव्यय है। आचार्यदेव कोमल सम्बोधनसे कहते हैं कि हे भाई! तू [कथम् अपि] किसीप्रकार महा कष्टसे अथवा [मृत्वा] मरकर भी [तत्त्वकौतूहली सन्] तत्त्वोंका कौतूहली होकर [मूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती भव] इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर [अनुभव] आत्माका अनुभव कर [अथ येन] कि जिससे [स्वं विलसन्तं] अपने आत्माको विलासरूप, [पृथक्] सर्व परद्रव्योंसे भिन्न [समालोक्य] देखकर [मूर्त्या साकम्] इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ [एकत्वमोहम्] एकत्वके मोहको [झगिति त्यजसि] तू शीघ्र ही छोड़ देगा। (23)

यहाँ वे अज्ञानियों को बड़े स्पष्ट शब्दों में उपदेश देते हैं कि "हे भाई! किसी भी तरह से, अत्यधिक कष्ट या मृत्यु के बाद भी, तत्त्वों के बारे में जिज्ञासु बनकर यह शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव करें..." निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह कोई ऐसा उपदेश नहीं है कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है। जब कोई अज्ञानी कहता है कि शुद्धनिश्चयनय से तो मैं अभी भी शुद्ध ही हूँ ना? तब वह नयाभास के कारण वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को शुद्ध मानने लगता है। क्योंकि अज्ञानी को नियम से पर्याय का ही अनुभव होता है। वह अपने को जो भी मानता है वह पर्यायरुप ही मानता है।

गाथार्थ :—[यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियोंको [जित्वा] जीतकर [ज्ञान-स्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक [आत्मानम्] आत्माको [जानाति] जानता है [तं] उसे, [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तवमें [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणन्ति] कहते हैं। (31)

यहाँ वे बहुत स्पष्ट शब्दों में अज्ञानी को उपदेश देते हैं कि "जो इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक आत्माको जानता है..." निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह कोई कोई ऐसा उपदेश नहीं है कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है।

गाथार्थ :—[यः तु] जो मुनि [मोहं] मोहको [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्माको [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यभावोंसे अधिक [जानाति] जानता है

[तं साधुं] उस मुनिको [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थके जाननेवाले [जितमोहं] जितमोह [ब्रुवन्ति] कहते हैं। (32)

यहाँ वे बड़े स्पष्ट शब्दों में अज्ञानी को उपदेश देते हैं कि "मोहको जीतकर अपने आत्माको ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यभावोंसे अधिक जानता है...' निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह कोई ऐसा उपदेश नहीं है कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है।

इसप्रकार भाव्यभावक भावके संकरदोषको दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथासूत्रमें एक मोहका ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पदको बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन—इन पांचके सूत्रोंको इन्द्रियसूत्रके द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इसप्रकार सोलह सूत्रोंको भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना। (32)

यहाँ वे अज्ञानी को बहुत स्पष्ट शब्दों में उपदेश देते हैं कि "तुम्हें राग-द्वेष-मान-माया-लोभ... जीतकर अपने आत्माको ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यभावोंसे अधिक जानता है..." निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह कोई ऐसा उपदेश नहीं है कि "तुम मुक्त ही हो, तुम्हें मुक्त होना नहीं है। तुम मुक्त ही हो यह निर्णय करना है।" दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है।

गाथार्थ :—[जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके [यदा] जब [क्षीणः मोहः] मोह क्षीण होकर सत्तामेंसे नष्ट [भवेत्] हो [तदा] तब [निश्चयविद्भिः] निश्चयके जाननेवाले [खलु] निश्चयसे [सः] उस साधुको [क्षीणमोहः] 'क्षीणमोह' नामसे [भण्यते] कहते हैं। (33)

टीका :—इस निश्चयस्तुतिमें, पूर्वोक्त विधानसे आत्मामेंसे मोहका तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक आत्माका अनुभव करनेसे जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभावकी भावनाका भलीभांति अवलम्बन करनेसे मोहकी संततिका ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो—इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोहका क्षय होनेसे आत्माके विभावरूप भाव्यभावका भी अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भावका अभाव होनेसे एकत्व होनेसे टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्माको प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। यह तीसरी निश्चयस्तुति है।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदोंको रखकर सोलह सूत्रोंका व्याख्यान करना और इसप्रकारके उपदेशसे अन्य भी विचार लेना। (33)

यहाँ वे अज्ञानी को बहुत स्पष्ट शब्दों में उपदेश देते हैं कि "तुम्हें राग-द्वेष-मान-माया-लोभ... जीतकर अपने आत्माको ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यभावोंसे अधिक जानता है...' निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह कोई ऐसा उपदेश नहीं

देते हैं कि "जीवमात्र में परमतत्त्व का ही दर्शन करना चाहिये।" जिस अज्ञानी को अपनी आत्मा का कोई अनुभव नहीं है वह दूसरों को भी आत्मा के रूप में नहीं देख सकता। यह सर्वविदित है। अतः किसी अज्ञानी को ऐसा उपदेश नहीं दिया जा सकता। सबसे पहले उसे स्वात्मानुभूति का उपदेश देना ज़रूरी है। उसके लिये वैराग्यादि योग्यताओं का उपदेश देना आवश्यक है। दोनों उपदेशों की तुलना करने से निश्चयाभासी उपदेशकों की अज्ञानता आसानी से उजागर हो जाती है।

भावार्थ :—निश्चयव्यवहारनयके विभागसे आत्मा और परका अत्यन्त भेद बताया है; उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरससे स्वयं अपने स्वरूपको जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्माको परसे भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घसंसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है।२८।

यहाँ कहा गया है कि "जब ज्ञान अपने स्वरससे स्वयं अपने स्वरूपको जानता है" अर्थात् स्वरस के बिना काम नहीं होगा। परन्तु अज्ञानी को पररस सूखता ही नहीं, इसलिए उसे पहले पररस को सुखाने की साधना करनी चाहिये। मूर्छा की जांच करें, इससे पररस की पहचान होगी।

गाथार्थ :—[यथा नाम] जैसे लोकमें [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तुको 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [त्यजति] परवस्तुका त्याग करता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्योंके भावोंको [ज्ञात्वा] 'यह परभाव है' ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड़ देता है। (35)

यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान होने के कारण वह सहज ही कालक्रम से चारित्र के बल से पर को छोड़ सकता है। यह कहते हैं।

भावार्थ :—जब तक परवस्तुको भूलसे अपनी समझता है तब तक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होनेसे परवस्तुको दूसरेकी जानता है तब दूसरेकी वस्तुमें ममत्व कैसे रहेगा? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।।३५।।

श्लोकार्थ :—[इह] इस लोकमें [अहं] मैं [स्वयं] स्वतः ही [एकं स्वं] अपने एक आत्मस्वरूपका [चेतये] अनुभव करता हूँ [सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं] कि जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये [मोहः] यह मोह [मम] मेरा [कश्चन नास्ति नास्ति] कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। [शुद्ध-चिद्-घन-महः-निधिः अस्मि] मैं तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजःपुंजका निधि हूँ। (भावकभावके भेदसे ऐसा अनुभव करे।)।३०।

ज्ञानी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक ऐसा कहता है। यदि यही बात कोई अज्ञानी कहे तो वह निश्चयाभासी ही हो जाता है।

स्वयमेव, (चैतन्यमें) नित्य उपयुक्त और परमार्थसे एक, अनाकुल आत्माका अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चयसे एक ही हूँ इसलिए, ज्ञेयज्ञायकभावमात्रसे उत्पन्न परद्रव्योंके साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वादमें आनेवाले स्वभावके भेदके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने

एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता)। इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान हुआ।।३७।।

ज्ञानी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक ऐसा कहता है। यदि यही बात कोई अज्ञानी कहे तो वह निश्चयाभासी ही हो जाता है।

भावार्थ :—सर्व परद्रव्योंसे तथा उनसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब भेद जाना तब उपयोगको रमणके लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्रके साथ एकरूप हुआ वह आत्मामें ही रमण करता है ऐसा जानना।३१।

ज्ञानी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक ऐसा कहता है। यदि यही बात कोई अज्ञानी कहे तो वह निश्चयाभासी ही हो जाता है।

गाथार्थ :—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि—[**खलु**] निश्चयसे [**अहम्**] मैं [**एकः**] एक हूँ, [**शुद्धः**] शुद्ध हूँ, [**दर्शनज्ञानमयः**] दर्शनज्ञानमय हूँ, [**सदा अरूपी**] सदा अरूपी हूँ; [**किंचित् अपि अन्यत्**] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र भी [**मम न अपि अस्ति**] मेरा नहीं है यह निश्चय है। (38)

टीका :—जो, अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तताके कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरुसे निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकारसे समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठीमें रखे हुए सोनेको भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोनेको देखे इस न्यायसे, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्यके धारक) आत्माको भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (–उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकारसे एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि–मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकारके कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता, इसलिये मैं एक हूँ; नारक आदि जीवके विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भावके द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होनेसे सामान्य-विशेष उपयोगात्मकताका उल्लंघन नहीं करता, इसलिये मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ, इसलिये परमार्थसे मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूपका अनुभव करता हुआ यह मैं प्रतापवन्त रहा। इसप्रकार प्रतापवन्त वर्तते हुए ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकारकी स्वरूप-सम्पदाके द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूपसे मेरे साथ होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाड़कर—पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है। (38)

भावार्थ :—आत्मा अनादि कालसे मोहके उदयसे अज्ञानी था, वह श्री गुरुओंके

उपदेशसे और स्व-काललब्धिसे ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूपको परमार्थसे जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जाननेसे मोहका समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनुभवमें आई; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता ॥३८॥

ज्ञानी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक ऐसा कहता है। यदि यही बात कोई अज्ञानी कहे तो वह निश्चयाभासी ही हो जाता है।

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मामें समस्त लोक निमग्न हो जाओ :—

श्लोकार्थ :—[**एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः**] यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा [**विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य**] विभ्रमरूपी आड़ी चादरको समूलतया डूबोकर (दूर करके) [**प्रोन्मग्नः**] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [**अमी समस्ताः लोकाः**] इसलिये अब यह समस्त लोक [**शान्तरसे**] उसके शान्त रसमें [**समम् एव**] एक साथ ही [**निर्भरम्**] अत्यन्त [**मज्जन्तु**] मग्न हो जाओ, कि जो शान्त रस [**आलोकम् उच्छलति**] समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है। (32)

भावार्थ :—जैसे समुद्रके आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होने पर, लोगोंको प्रेरणा योग्य होता है कि 'इस जलमें सभी लोग स्नान करो'; इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रमसे आच्छादित था तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जानेसे यथास्वरूप (ज्योंका त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; (32)

यह शास्त्र ज्ञानी कैसी शुद्धात्मा की अनुभूति करता है यह बताने के लिये है। वही बात यहाँ पुष्ट होती है।

—१—
जीव—अजीव अधिकार

श्लोकार्थ :—[**ज्ञानं**] ज्ञान है वह [**मनो ह्लादयत्**] मनको आनन्दरूप करता हुआ [**विलसति**] प्रगट होता है। वह [**पार्षदान्**] जीव-अजीवके स्वांगको देखनेवाले महापुरुषोंको [**जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा**] जीव-अजीवके भेदको देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा [**प्रत्याययत्**] भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। [**आसंसार-निबद्ध-बन्धन-विधि-ध्वंसात्**] अनादि संसारसे जिनका बन्धन दृढ़ बन्धा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे [**विशुद्धं**] विशुद्ध हुआ है, [**स्फुटत्**] स्फुट हुआ है—जैसे फूलकी कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है। और [**आत्म-आरामम्**] उसका रमण करनेका क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार आ कर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूपमें ही रमता है; [**अनन्तधाम**] उसका प्रकाश अनन्त है; और वह [**अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं**] प्रत्यक्ष तेजसे

नित्य उदयरूप है। तथा वह [धीरोदात्तम्] धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिए [अनाकुलं] अनाकुल है—सर्व इच्छाओंसे रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल—यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्यके आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है। (33)

भावार्थ :—यह ज्ञानकी महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्यमें कोई स्वांग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूपमें जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वांगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूपको जैसा का तैसा ही कर लेता है उसीप्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेदको नहीं जानते।३३।

यह कथन ज्ञानी की अनुभूतिपूर्वक का है। ज्ञानी ही स्वांग को पहचान सकता है। यदि यही बात कोई अज्ञानी कहे तो वह निश्चयाभासी हो जाता है। यहाँ स्पष्ट लिखा है कि मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते। परन्तु यदि कोई अज्ञानी इसे केवल शब्दों में बोलकर मानने लगे तो यह उसके लिये अनन्त संसार का कारण बनने में सक्षम है।

गाथार्थ :—[एते] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [सर्वे भावाः] भाव हैं वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणामसे उत्पन्न हुए हैं इसप्रकार [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवोंने [भणिताः] कहा है [ते] उन्हें [जीवः इति] जीव ऐसा [कथं उच्यन्ते] कैसे कहा जा सकता है? (44)

टीका :—यह समस्त ही अध्यवसानादि भाव, विश्वके (समस्त पदार्थोंके) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवोंके द्वारा पुद्गलद्रव्यके परिणाममय कहे गये हैं इसलिये, वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होनेके लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभावसे शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्यसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिकको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभवसे उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञका वचन है वह तो आगम है और वह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है :—स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषके द्वारा मलिन अध्यवसान हैं वे जीव नहीं है; क्योंकि, कालिमासे भिन्न सुवर्णकी भांति, तथाविध अध्यवसानसे भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभावको प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।१। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है ऐसी एक संसरणरूप क्रियाके रूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्यभावस्वरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।२। तीव्र-मन्द अनुभवसे भेदरूप होनेवाले, दुरन्त रागरससे भरे हुए अध्यवसानोंकी संतति भी जीव नहीं है; क्योंकि उस संततिसे भिन्न अन्य चैतन्यभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।३। नई-पुरानी अवस्थादिकके भेदसे प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि शरीरसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।४। समस्त जगतको पुण्य-पापरूपसे व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभ भावसे

भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।५। साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमन्दतारूप गुणोंके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःखसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।६। श्रीखण्डकी भाँति उभयात्मकरूपसे मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं; क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।७। अर्थक्रियामें समर्थ कर्मका संयोग भी जीव नहीं है क्योंकि, आठ लकड़ियोंके संयोगसे (-पलंगसे) भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुषकी भांति, कर्मसंयोगसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।८। (इसीप्रकार अन्य कोई दूसरे प्रकारसे कहे तो वहाँ भी यही युक्ति जानना।) (44)

भावार्थ :—चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावोंसे भिन्न, भेदज्ञानियोंके गोचर हैं; इसलिए अज्ञानी जैसा मानते हैं वैसा नहीं है॥४४॥

यह कथन ज्ञानी की अनुभूतिपूर्वक का है। इसी लिये कहा गया है कि "...भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।" परन्तु यदि कोई अज्ञानी इसे केवल शब्दों में बोलकर मानने लगे तो वह निश्चयाभासी हो जाता है। अनुभव हुआ तो भिन्न है, बिना अनुभव के मान लिया तो भ्रम ही होगा।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥३४॥

श्लोकार्थ :—हे भव्य! तुझे [अपरेण] अन्य [अकार्य-कोलाहलेन] व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे [किम्] क्या लाभ है? तू [विरम] इस कोलाहलसे विरक्त हो और [एकम्] एक चैतन्यमात्र वस्तुको [स्वयम् अपि] स्वयं [निभृतः सन्] निश्चल लीन होकर [पश्य षण्मासम्] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे [हृदय-सरसि] अपने हृदयसरोवरमें, [पुद्गलात् भिन्नधाम्नः] जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है ऐसे उस [पुंसः] आत्माकी [ननु किम् अनुपलब्धिः भाति] प्राप्ति नहीं होती है [किं च उपलब्धिः] या होती है? (34)

कई अज्ञानी इस गाथा का हवाला देकर छह महीने की गारंटी देते हैं। ज्ञानी कोई गारंटी नहीं देता। यहां आचार्य भगवान ने भी कोई गारंटी नहीं दी है बल्कि स्पष्ट कहा है कि "आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है?" इसलिये यदि कोई गारंटी देते हैं तो निश्चय ही वे अज्ञानी हैं यह समझ में आता है।

गाथार्थ :—[एते सर्वे] यह सब [अध्यवसानादयः भावाः] अध्यवसानादि भाव [जीवाः] जीव हैं इसप्रकार [जिनवरैः] जिनवरोंने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश दिया है सो [व्यवहारस्य दर्शनम्] व्यवहारनय दिखाया है। (46)

टीका :—यह सब ही अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेवोंने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनयको भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छभाषा म्लेच्छोंको वस्तुस्वरूप बतलाती है उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है इसलिए, अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसङ्गत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थसे (–निश्चयनयसे) जीव शरीरसे भिन्न बताये जानेके कारण, जैसे भस्मको मसल देनेमें हिंसाका अभाव है उसीप्रकार, त्रसस्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देने–कुचल देने (घात करने)में भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थके द्वारा जीव रागद्वेषमोहसे भिन्न बताये जानेके कारण, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मसे बँधता है उसे छुड़ाना'—इसप्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा और इससे मोक्षका ही अभाव होगा। (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाय तो बन्ध-मोक्षका अभाव ठहरता है।) (46)

भावार्थ :—परमार्थनय तो जीवको शरीर तथा रागद्वेषमोहसे भिन्न कहता है। यदि इसीका एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा रागद्वेषमोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे, तो फिर पुद्गलका घात करनेसे हिंसा नहीं होगी तथा रागद्वेषमोहसे बन्ध नहीं होगा। इसप्रकार, परमार्थसे जो संसार-मोक्ष दोनोंका अभाव कहा है एकान्तसे यह ही ठहरेगा। किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है; अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है। इसलिये व्यवहारनयका उपदेश न्यायप्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है।।४६।।

यहाँ व्यवहारनय का प्रयोजन दर्शाया गया है क्योंकि अनेक निश्चयाभासी जीवों का मानना है कि व्यवहारनय का कोई उपयोग ही नहीं है। समझनेवाली बात यह है कि कोई भी एकान्त काम नहीं करेगा। जिस प्रकार व्यवहार का एकान्त जीव को व्यवहाराभासी बनाता है, उसी प्रकार निश्चय का एकान्त जीव को निश्चयाभासी बनाता है। और यदि दोनो एकान्त एकसाथ हों तो जीव को उभयाभासी बनाते हैं।

गाथार्थ :—हे भव्य! तू [जीवम्] जीवको [अरसम्] रसरहित, [अरूपम्] रूपरहित, [अगन्धम्] गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, [चेतनागुणम्] चेतना जिसका गुण है ऐसा, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिङ्गग्रहणं] किसी चिह्नसे ग्रहण न होनेवाला और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसका आकार नहीं कहा जाता ऐसा [जानीहि] जान। (49)

अपने अनुभवमें आनेवाले चेतनागुणके द्वारा सदा ही अन्तरङ्गमें प्रकाशमान है, इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है। चेतनागुण कैसा है? जो समस्त विप्रतिपत्तियोंको (जीवको अन्य प्रकारसे माननेरूप झगड़ोंको) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्तिसे उपशान्त हो गया हो

इसप्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूपसौख्यसे तृप्त-तृप्त होनेके कारण स्वरूपमेंसे बाहर निकलनेका अनुद्यमी हो इसप्रकार) सर्व कालमें किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा ही लेश मात्र भी नहीं चलित ऐसी अन्यद्रव्यसे असाधारणता होनेसे जो (असाधारण) स्वभावभूत है। (49)

—ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान इस लोकमें एक, टङ्कोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप बिराजमान है ।।४९।।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्माके अनुभवकी प्रेरणा करते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**चित्-शक्ति-रिक्तं**] चित्शक्तिसे रहित [**सकलम् अपि**] अन्य समस्त भावोंको [**अह्नाय**] मूलसे [**विहाय**] छोड़कर [**च**] और [**स्फुटतरम्**] प्रगटरूपसे [**स्वं चित्-शक्तिमात्रम्**] अपने चित्शक्तिमात्र भावका [**अवगाह्य**] अवगाहन करके, [**आत्मा**] भव्यात्मा [**विश्वस्य उपरि**] समस्त पदार्थसमूहरूप लोकके ऊपर [**चारु चरन्तं**] सुन्दर रीतिसे प्रवर्तमान ऐसे [**इमम्**] यह [**परम्**] एकमात्र [**अनन्तम्**] अविनाशी [**आत्मानम्**] आत्माका [**आत्मनि**] आत्मामें ही [**साक्षात् कलयतु**] अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो। (35)

“जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा भगवान इस लोकमें एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप बिराजमान है” यानी अनुभव में आता है। “समयसार” शास्त्र यह बताने के लिये है कि ज्ञानी कैसी शुद्धात्मा की अनुभूति करता है। वही बात यहाँ पुष्ट होती है।“समयसार” शास्त्र अज्ञानी के द्वारा मात्र शब्दों में बोलने के लिये नहीं है क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं होता, भ्रम होता है।

गाथार्थ :—[**जीवस्य**] जीवके [**वर्णः**] वर्ण [**नास्ति**] नहीं, [**न अपि गन्धः**] गंध भी नहीं, [**रसः अपि न**] रस भी नहीं [**च**] और [**स्पर्शः अपि न**] स्पर्श भी नहीं, [**रूपं अपि न**] रूप भी नहीं, [**न शरीरं**] शरीर भी नहीं, [**संस्थानं अपि न**] संस्थान भी नहीं, [**संहननम् न**] संहनन भी नहीं; [**जीवस्य**] जीवके [**रागः नास्ति**] राग भी नहीं, [**द्वेषः अपि न**] द्वेष भी नहीं,

[**मोहः**] मोह भी [**न एव विद्यते**] विद्यमान नहीं, [**प्रत्ययाः नो**] प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, [**कर्म न**] कर्म भी नहीं [**च**] और [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**तस्य नास्ति**] उसके नहीं हैं; [**जीवस्य**] जीवके [**वर्गः नास्ति**] वर्ग नहीं, [**वर्गणा न**] वर्गणा नहीं, [**कानिचित् स्पर्धकानि न एव**] कोई स्पर्धक भी नहीं, [**अध्यात्मस्थानानि नो**] अध्यात्मस्थान भी नहीं [**च**] और [**अनुभागस्थानानि**] अनुभागस्थान भी [**न एव**] नहीं हैं; [**जीवस्य**] जीवके [**कानिचित् योगस्थानानि**] कोई योगस्थान भी [**न सन्ति**] नहीं [**वा**] अथवा [**बन्धस्थानानि न**] बंधस्थान भी नहीं, [**च**] और [**उदयस्थानानि**] उदयस्थान भी [**न एव**] नहीं, [**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**] कोई मार्गणास्थान भी नहीं है; [**जीवस्य**] जीवके [**स्थितिबन्धस्थानानि नो**] स्थितिबंधस्थान भी नहीं [**वा**] अथवा [**संक्लेशस्थानानि न**] संक्लेशस्थान भी नहीं, [**विशुद्धिस्थानानि**] विशुद्धिस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**संयमलब्धिस्थानानि**] संयमलब्धिस्थान भी [**नो**] नहीं हैं; [**च**] और [**जीवस्य**] जीवके [**जीवस्थानानि**] जीवस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान भी [**न सन्ति**] नहीं हैं; [**येन तु**] क्योंकि [**एते सर्वे**] यह सब [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्यके [**परिणामाः**] परिणाम हैं। (50-51-52-53-54-55)

टीका :—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह सर्व ही जीवकी नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २। जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ३। जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ४। जो स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्र रूप है वह जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ५। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ६। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुण्डक संस्थान है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ७। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका अथवा असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ८। जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ९। जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १०। जो यथार्थतत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। ११। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १२। जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १३। जो छह पर्याप्तियोग और तीन शरीरयोग्य वस्तु (—पुद्गलस्कंध)रूप नोकर्म है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १४। जो कर्मके रसकी शक्तियोंका (अर्थात् अविभाग-परिच्छेदोंका) समूहरूप वर्ग है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १५। जो वर्गोंका समूहरूप वर्गणा है वह सर्व ही जीवका नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १६। जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूहके विशिष्ट न्यास (–जमाव)रूप (वर्गणाके समूहरूप) स्पर्धक हैं वह सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १७। स्व-परके एकत्वका अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तनेवाले), विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे भिन्नरूप जिनका लक्षण है ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वह सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १८। भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे

(अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १९। कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाका कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योग्यस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २०। भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २१। अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २२। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २३। भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंका अमुक काल तक साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २४। कषायके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २५। कषायके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २६। चारित्रमोहके विपाककी क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, (50-55)

ये सभी भाव अनुभूति से भिन्न हैं। अर्थात् वे अनुभूतिरूप आत्मा में नहीं हैं। चूँकि यह शास्त्र ज्ञानी की अनुभूति का वर्णन करता है और उस अनुभूति में ये सभी भाव नहीं हैं, इसलिए ये सभी भाव आत्मा में नहीं हैं।

क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २७। पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनके लक्षण हैं ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २८। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण—उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसांपराय—उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्मसांपराय—उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण हैं ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न हैं। २९। (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्‌गलद्रव्यके परिणाममय भाव हैं; वे सब, जीवके नहीं हैं। जीव तो परमार्थसे चैतन्यशक्तिमात्र है।)॥५० से ५५॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[वर्ण-आद्याः] जो वर्णादिक [वा] अथवा [राग-मोह-आदयः वा] रागमोहादिक [भावाः] भाव कहे [सर्वे एव] वे सब ही [अस्य पुंसः] इस पुरुष (आत्मा)से [भिन्नाः] भिन्न हैं, [तेन एव] इसलिये [अन्तःतत्त्वतः पश्यतः] अन्तर्दृष्टिसे देखनेवालेको [अमी नो दृष्टाः स्युः] यह सब दिखाई नहीं देते, [एकं परं दृष्टं स्यात्] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है—केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है। (37)

"केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है" यानी अनुभव में आता है। चूँकि उपरोक्त सभी भाव विशेषभाव हैं, इसलिये वे सामान्यभावरूप-अनुभूतिस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। और चूँकि "समयसार" शास्त्र में वर्णित जीव ज्ञानी की अनुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा होने के कारण, शुद्धनय का विषय होने के कारण, इसमें सभी विशेषभावों का अभाव ही होता है। अज्ञानी यह बात अपने लिये नहीं कह सकता। यदि कोई अज्ञानी यहाँ कहे अनुसार मान लेता है तो वह नयाभास के कारण निश्चयाभासी ही हो जाता है।

गाथार्थ :—[पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्गमें जाते हुये व्यक्तिको लुटता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर '[एषः पन्था] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है' इसप्रकार [व्यवहारिणः लोकाः] व्यवहारीजन [भणन्ति] कहते हैं; किन्तु परमार्थसे विचार किया जाये तो [कश्चित् पन्था] कोई मार्ग तो [न च मुष्यते] नहीं लुटता, मार्गमें जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; [तथा] इसप्रकार [जीवे] जीवमें [कर्मणां नोकर्मणां च] कर्मोंका और नोकर्मोंका [वर्णम्] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर '[जीवस्य] जीवका [एषः वर्णः] यह वर्ण है' इसप्रकार [जिनैः] जिनेन्द्रदेवने [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्तः] कहा है। इसीप्रकार [गन्धरसस्पर्शरूपाणि] गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, [देहः संस्थानादयः] देह, संस्थान आदि [ये च सर्वे] जो सब हैं, [व्यवहारस्य] वे सब व्यवहारसे [निश्चयद्रष्टारः] निश्चयके देखनेवाले [व्यपदिशन्ति] कहते हैं। (58-59-60)

यहाँ कहा गया है कि "..गंध, रस, स्पर्श, रुप, देह, संस्थान आदि जो सब हैं, वे सब व्यवहारसे निश्चयके देखनेवाले कहते है।" यानी सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अतः कह सकते हैं कि शुद्धनिश्चयनय अनुभूति का विषय है। शब्दों में बोलने का या मानने का विषय नहीं है।

भावार्थ :—ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे हैं वे व्यवहारनयसे कहे हैं; निश्चयनयसे वे जीवके नहीं हैं, क्योंकि जीव तो परमार्थसे उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना कि—पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था सो वहाँ ऐसा न समझना कि यह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्यको भिन्न, पर्यायोंसे अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्रको प्रधान करके कहा जाता है तब परस्पर द्रव्योंका निमित्त-नैमित्तिकभाव तथा निमित्तसे होनेवाली पर्यायें—वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्यकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते। इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावोंको उस द्रव्यमें कहा जाये तो वह व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे गये हैं सो व्यवहारसे कहे गये हैं। यदि निमित्त-नैमित्तिकभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहारका लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहारका लोप होनेसे परमार्थका भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेवका उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है, और सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है॥५८ से ६०॥

कई निश्चयाभासी उपदेशक व्यवहार को केवल उपचारात्मक (व्यर्थ-झूठा) मानकर केवल निश्चयनय के उपदेश के ही पक्षपाती होते हैं। इसलिये उनको निश्चय का एकान्त पक्ष है। उन्हें आचार्य भगवन्त बता रहे हैं कि व्यवहार का लोप होने के साथ ही परमार्थ का भी लोप हो जाता है। हालाँकि निश्चयाभासी ऐसे एकान्त का सेवन करते हैं क्योंकि वे इस तथ्य से अनजान हैं। उसमें उनका कोई दोष नहीं है, दोष तो उनके मोह का है। मोह की तीव्रता इतनी होती है कि उन्हें इसकी समझ ही नहीं होती। इसी लिये ऐसे जीव धर्म के क्षेत्र में अर्थात् सम्यग्दर्शन की साधना में क्रमबद्धपर्याय को आगे करते हैं, अर्थात् उनका मानना है कि जब क्रमबद्धपर्याय में होगा तब उन्हें स्वतः ही पुरुषार्थ होगा, आत्मज्ञान होगा, मोक्ष की प्राप्ति होगी। परन्तु संसार के सभी कार्यों में वे पूरा पुरुषार्थ लगाते हैं, बहुत महेनत भी करते हैं। वहाँ क्रमबद्धपर्याय नहीं लगाते। यही अज्ञानी की पहचान है।

टीका :—बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त—इन शरीरकी संज्ञाओंको (नामोंको) सूत्रमें जीवसंज्ञारूपसे कहा है, वह परकी प्रसिद्धिके कारण, 'घीके घड़े' की भाँति व्यवहार है—कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बातको स्पष्ट कहते हैं :—

जैसे किसी पुरुषको जन्मसे लेकर मात्र 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़ेको न जानता हो, उसे समझानेके लिये "जो यह 'घीका घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं" इसप्रकार (समझानेवालेके द्वारा) घड़ेमें 'घीका घड़े'का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुषको 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसीप्रकार इस अज्ञानी लोकको अनादि संसारसे लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीवको नहीं जानता, उसे समझानेके लिये (—शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिये) "जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है , वर्णादिमय नहीं" इसप्रकार (सूत्रमें) जीवमें वर्णादि-मानपनेका व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोकको 'वर्णादिमान् जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हैं।।६७।।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[चेत्] यदि [घृतकुम्भाभिधाने अपि] 'घीका घड़ा' ऐसा कहने पर भी [कुम्भः घृतमयः न] घड़ा है वह घीमय नहीं है (—मिट्टीमय ही है), [वर्णादिमत्-जीव-जल्पने अपि] तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहने पर भी [जीवः न तन्मयः] जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (-ज्ञानघन ही है)। (40)

यहाँ जैसे "घीका घड़ा" और "वर्णादिवाला जीव" कहा वैसे "सांसारिक (बाह्य) सुख" कहने से वह सुख बाहर से आनेवाला सुख नहीं है। सुख तो आत्मा से ही आता है, भले ही आलम्बन बाहरी हो। यही निर्णय लेकर अपने अंदर सुख ढूँढना होगा, बाहर नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

भावार्थ :—शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्यापक न होनेसे चैतन्यशून्य हैं—जड़ हैं। और आगममें भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्यसे भिन्नरूप अनुभव करते हैं, इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं। (68)

चूँकि वे रागादि भाव विशेषभाव हैं, इसलिये वे सामान्यभावरूप-अनुभूतिस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। और चूँकि "समयसार" शास्त्र में वर्णित जीव ज्ञानी की अनुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा होने के कारण, शुद्धनय का विषय होने के कारण, इसमें सभी विशेषभावों का अभाव ही होता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[अनादि] जो अनादि[१] है, [अनन्तम्] अनन्त[२] है, [अचलं] अचल[१] है, [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य[२] है [तु] और [स्फुटम्] प्रगट[३] है—ऐसा जो [इदं चैतन्यम्] यह चैतन्य [उच्चैः] अत्यन्त [चकचकायते] चकचकित-प्रकाशित हो रहा है, [स्वयं जीवः] वह स्वयं ही जीव है। (41)

भावार्थ :—वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं, किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्यभाव ही जीव है।४१।

अब, काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीवका योग्य लक्षण है :—

श्लोकार्थ :—[यतः अजीवः अस्ति द्वेधा] अजीव दो प्रकारके हैं—[वर्णाद्यैः सहितः] वर्णादिसहित [तथा विरहितः] और वर्णादिरहित; [ततः] इसलिये [अमूर्तत्वम् उपास्य] अमूर्तत्वका आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्वको जीवका लक्षण मानकर भी) [जीवस्य तत्त्वं] जीवके यथार्थ स्वरूपको [जगत् न पश्यति] जगत् नहीं देख सकता;—[इति आलोच्य] इसप्रकार परीक्षा करके [विवेचकैः] भेदज्ञानी पुरुषोंने [न अव्यापि अतिव्यापि वा] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणोंसे रहित [चैतन्यम्] चेतनत्वको जीवका लक्षण कहा है [समुचितं] वह योग्य है। [व्यक्तं] वह चैतन्यलक्षण प्रगट है, [व्यंजित-जीव-तत्त्वम्] उसने जीवके यथार्थ स्वरूपको प्रगट किया है और [अचलं] वह अचल है—चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। [आलम्ब्यताम्] जगत् उसीका अवलम्बन करो! (उससे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है।) (42)

यहाँ कहा गया है कि "जगत् उसीका अवलम्बन करो!" अर्थात् जगत् में रहे साधकों को इसका अनुभव करना चाहिये। यही करने योग्य है। उन्हें केवल शब्दों के अवलम्बन के लिए नहीं कहा गया है, जो हम अनादिकाल से कई बार कर चुके हैं, लेकिन काम नहीं आया।

श्लोकार्थ :—[इति लक्षणतः] यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण [जीवात् अजीवम् विभिन्नं] जीवसे अजीव भिन्न है [स्वयम् उल्लसन्तम्] उसे (अजीवको) अपने आप ही (-स्वतन्त्रपने, जीवसे भिन्नपने) विलसित हुआ—परिणमित होता हुआ [ज्ञानी जनः] ज्ञानीजन [अनुभवति] अनुभव करते हैं, [तत्] तथापि [अज्ञानिनः] अज्ञानीको [निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु] अमर्यादरूपसे फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-परके एकत्वकी भ्रान्ति) [कथम् नानटीति] क्यों नाचता है—[अहो बत] यह हमें महा आश्चर्य और खेद है! ४३।

यहाँ कहा गया है कि – "...विलसित हुआ-परिणमित हुआ ज्ञानीजन अनुभव करते हैं" चूँकि वे वर्णादि-रागादि सभी भाव विशेषभाव हैं, इसलिये वे सामान्यभावरूप-अनुभूतिस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। और चूँकि "समयसार" शास्त्र में वर्णित जीव ज्ञानी की अनुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा होने के कारण, शुद्धनय का विषय होने के कारण, इसमें सभी विशेषभावों का अभाव ही होता है। यही भाव की यहाँ पुष्टि होती है।

—२—
कर्ताकर्म अधिकार

श्लोकार्थ :—'[इह] इस लोकमें [अहम् चिद्] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [एकः कर्ता] एक कर्ता हूँ और [अमी कोपादयः] यह क्रोधादि भाव [मे कर्म] मेरे कर्म हैं' [इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्] ऐसी अज्ञानियोंके जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है उसे [अभितः शमयत्] सब ओरसे शमन करती हुई (–मिटाती हुई) [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [स्फुरति] स्फुरायमान होती है। वह ज्ञान-ज्योति [परम-उदात्तम्] परम उदात्त है अर्थात् किसीके आधीन नहीं है, [अत्यन्तधीरं] अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है और [निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि] परकी सहायताके बिना-भिन्न भिन्न द्रव्योंको प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव है, इसलिये [विश्वम् साक्षात् कुर्वत्] वह समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है। (46)

यहाँ कहा गया है कि "ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है" अर्थात् ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अज्ञानी में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति होती है। जबकि ज्ञानी को पर का कर्तापन नहीं होता। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी अकर्ता मानने का उपदेश देते हैं। इससे उनके अज्ञान का पता चलता है। आगे कहते हैं कि अज्ञानी को कर्मों का बन्ध होता है।

गाथार्थ :—[जीवः] जीव [यावत्] जब तक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव—इन दोनोंके [विशेषान्तरं] अन्तर और भेदको [न वेत्ति] नहीं जानता [तावत्] तब तक [सः] वह [अज्ञानी] अज्ञानी रहता हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवोंमें [वर्तते] प्रवर्तता है; [क्रोधादिषु] क्रोधादिकमें [वर्तमानस्य तस्य] प्रवर्तमान उसके [कर्मणः] कर्मका [सञ्चयः] संचय [भवति] होता है। [खलु] वास्तवमें [एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीवके [बन्धः] कर्मोंका बन्ध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवोंने [भणितः] कहा है। (69-70)

टीका :—जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और ज्ञानमें विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होनेसे उनके भेदको (पृथक्त्वको) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञानमें अपनेपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (ज्ञानमें अपनेपनेसे) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है इसलिये, जानता है—जाननेरूपमें परिणमित होता है, इसीप्रकार जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमें भी, अपने अज्ञानभावसे, विशेष न जानता हुआ उनके भेदको नहीं देखता तब तक निःशंकतया क्रोधादिमें अपनेपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादिमें अपनेपनेसे) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रियाका परभावभूत होनेसे निषेध किया गया है तथापि वह स्वभावभूत होनेका उसे अध्यास होनेसे, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है। अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे [1]ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्थाका त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ

प्रतिभासित होता है; वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवर्तनसे भिन्न, जो [2]क्रियमाणरूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं, ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ताके) कर्म हैं। इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञानसे होनेवाली यह (आत्माकी) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है। इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्मभावसे क्रोधादिमें प्रवर्तमान इस आत्माके, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप उसी परिणामको निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भावसे ही परिणमित होनेवाला पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है। इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसे सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहरूप होनेसे जिसमें इतरेतराश्रय दोष (69-70)

यहाँ कहा गया है कि "निःशंकतया ज्ञानमें अपनेपनसे प्रवर्तता है" यह ज्ञानी की बात करते हुए उन्होंने आगे अज्ञानी के लिये कहा है कि "अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है; वह कर्ता है;" इसलिये किसी को भी बिना स्वात्मानुभूति के ज्ञानी के परिणामों को शब्दरूप से जानकर स्वयं को ऐसा मान लेना या अपने लिए ऐसा बोलना नहीं चाहिये। अन्यथा वह निश्चयाभासी ही होगा। यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि ज्ञानी स्वयं को अकर्ता अनुभव करता है और अज्ञानी स्वयं को नियम से कर्ता अनुभव करता है। इसलिये किसी को भी बिना स्वात्मानुभूति के स्वयं को अकर्ता नहीं मानना चाहिये। अन्यथा वह निश्चयाभासी ही होगा। ऐसे ही ग़लत अर्थघटनों के कारण यह उत्कृष्ट शास्त्र अनेक जीवों के लिए शस्त्र के रूप में काम करता है जो कि वर्तमान काल की एक भयानक विडम्बना है। इसमें आगे कहा गया है कि जब कोई जीव ज्ञानी बन जाता है तो उसे बन्ध नहीं होता। अज्ञानी को बन्ध अवश्य होता है। इसलिये किसी अज्ञानी को ऐसा मानने या बोलने का कोई अधिकार ही नहीं है। अन्यथा वह निश्चयाभासी ही होगा।

दूर हो गया है ऐसा वह बन्ध, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है। (69-70)

भावार्थ :—यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है उसीप्रकार जब तक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञानमें और क्रोधादिमें भेद नहीं जानता, तब तक उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है; क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। और अनादि अज्ञानसे तो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे बन्ध है और उस बन्धके निमित्तसे अज्ञान है; इसप्रकार अनादि सन्तान (प्रवाह) है, इसलिये उसमें इतरेतराश्रयदोष भी नहीं आता।

इसप्रकार जब तक आत्मा क्रोधादि कर्मका कर्ता होकर परिणमित होता है तब तक कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और तब तक कर्मका बन्ध होता है।।६९-७०।।

अब प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इसका उत्तर कहते हैं :—

गाथार्थ :—[यदा] जब [अनेन जीवेन] यह जीव [आत्मनः] आत्माका [तथा एव च] और [आस्रवाणां] आस्रवोंके [विशेषान्तरं] अन्तर और भेदको [ज्ञातं भवति] जानता है [तदा तु] तब [तस्य] उसे [बन्धः न] बन्ध नहीं होता। (71)

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अज्ञानी क्रोधादिरूप परिणमता हुआ स्वयं ही कर्ता है, अतः उसको कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति होती है। जबकि ज्ञानी को कर्तापन नहीं होता। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी अकर्तापन का उपदेश देते हैं। वे अज्ञानी को भी अपने राग-द्वेष का अकर्ता-साक्षी बनने का उपदेश देते हैं, वही उनकी अज्ञानता को

उजागर करता है। दूसरे, ज्ञानी ही आत्मा और आस्रव के बीच का अंतर जानता है। अर्थात् "समयसार" ग्रंथ में वर्णित भाव ज्ञानी की अनुभूति को ध्यान में रखकर ही कहे गये हैं।

जो यह कहा है कि ज्ञानीको बन्ध नहीं होता उसका कारण इसप्रकार है :— मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसारका कारण है वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदिसे जो बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसारका कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा कारण है कि :—ज्ञान बन्धका कारण नहीं है। जब तक ज्ञानमें मिथ्यात्वका उदय था तब तक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्वके जानेके बाद अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं, इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्धका कारण है, वह तो बन्धकी पंक्तिमें है, ज्ञानकी पंक्तिमें नहीं। इस अर्थके समर्थनरूप कथन आगे गाथाओंमें आयेगा ।।७२।। भावार्थ

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[परपरिणतिम् उज्झत्] परपरिणतिको छोड़ता हुआ, [भेदवादान् खण्डयत्] भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, [इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्] यह अखण्ड और अत्यंत प्रचण्ड ज्ञान [उच्चैः उदितम्] प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। [ननु] अहो ! [इह] ऐसे ज्ञानमें [कर्तृकर्मप्रवृत्तिः] (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका [कथम् अवकाशः] अवकाश कैसे हो सकता है ? [वा] तथा [पौद्गलः कर्मबन्धः] पौद्गलिक कर्मबंध भी [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? (नहीं हो सकता।) (47)

यहाँ यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि ज्ञानी को कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश क्यों हो सकता है? नहीं हो सकता। जबकि अज्ञानी में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति होती है। निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी अकर्तापन का उपदेश देते हैं। इससे ही उनकी अज्ञानता का पता चलता है। निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी ज्ञाताद्रष्टा रहने का उपदेश देते है। मगर जब तक आत्मानुभूति न हो तब तक वह जीव ज्ञाताद्रष्टा नहीं रह सकता क्योंकि तब तक वह जीव केवल पर्यायदृष्टि ही होता है, उसका ज्ञान प्रमाण नहीं होता। इसलिये वह कर्ता ही होता है ज्ञाताद्रष्टा नहीं होता।

गाथार्थ :—ज्ञानी विचार करता है कि—[खलु] निश्चयसे [अहम्] मैं [एकः] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [निर्ममतः] ममतारहित हूँ, [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ; [तस्मिन् स्थितः] उस स्वभावमें रहता हुआ, [तच्चित्तः] उससे (-उस चैतन्य-अनुभवमें) लीन होता हुआ (मैं) [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सर्व आस्रवोंको [क्षयं] क्षयको [नयामि] प्राप्त कराता हूँ। (73)

यहाँ ज्ञानी की अनुभूति के भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किये गये हैं। जबकि अज्ञानियों में ऐसे भाव नहीं होते। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी ऐसे भाव रखने का उपदेश देते हैं। उसका ध्यान करना भी सिखाते हैं। इससे ही उनकी अज्ञानता का पता चलता है।

भावार्थ :—आस्रवोंका और आत्माका जैसा ऊपर कहा है तदनुसार भेद जानते ही, जिस-जिस प्रकारसे जितने-जितने अंशमें आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है उस-उस प्रकारसे उतने-उतने अंशमें वह आस्रवोंसे निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है तब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञानका और आस्रवनिवृत्तिका एक काल है।

यह आस्रवोंको दूर होनेका और संवर होनेका वर्णन गुणस्थानोंकी परिपाटीरूपसे तत्त्वार्थसूत्रकी टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रोंमें है वहाँसे जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' इसका क्या अर्थ है? उसका उत्तर :— 'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञानमें स्थित होता जाता है।' जब तक मिथ्यात्व हो तब तक ज्ञानको (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्वके जानेके बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों-ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर-घन होता जाता है त्यों-त्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है त्यों-त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर-घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है ॥७४॥

श्लोकार्थ :—[इति एवं] इसप्रकार पूर्वकथित विधानसे, [सम्प्रति] अधुना (तत्काल) ही [परद्रव्यात्] परद्रव्यसे [परां निवृत्तिं विरचय्य] उत्कृष्ट (सर्व प्रकारे) निवृत्ति करके, [विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः] विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयतासे आरूढ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको निःशंकतया आस्तिक्यभावसे स्थिर करता हुआ), [अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्] अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशसे [निवृत्तः] निवृत्त हुआ, [स्वयं ज्ञानीभूतः] स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, [जगतः साक्षी] जगतका साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा), [पुराणः पुमान्] पुराण पुरुष (आत्मा) [इतः चकास्ति] अब यहाँसे प्रकाशमान होता है ।४८।

यहाँ कहा कि ज्ञानी अनुभूति के बल पर कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास के कारण हुए क्लेश से निवृत्त हो जाता है और वह स्वयं को ज्ञानवरूप अनुभव करता हुआ, दुनिया का साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा) बनकर रहता है। जबकि अज्ञानियों में ऐसे भाव नहीं होते। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी ऐसे भाव रखने का उपदेश देते हैं। उसका ध्यान करना भी सिखाते हैं। इससे ही उनकी अज्ञानता का पता चलता है।अपना आश्रय=अनुभव।

गाथार्थ :—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। (76)

गाथार्थ :—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [स्वकपरिणामम्] अपने परिणामको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। (77)

श्लोकार्थ :—[**ज्ञानी**] ज्ञानी तो [**इमां स्वपरपरिणतिं**] अपनी और परकी परिणतिको [**जानन् अपि**] जानता हुआ प्रवर्तता है [**च**] और [**पुद्गलः अपि अजानन्**] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा परकी परिणतिको न जानता हुआ प्रवर्तता है; [**नित्यम् अत्यन्त-भेदात्**] इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होनेसे (दोनों भिन्न द्रव्य होनेसे), [**अन्तः**] वे दोनों परस्पर अन्तरङ्गमें [**व्याप्तृव्याप्यत्वम्**] व्याप्यव्यापकभावको [**कलयितुम् असहौ**] प्राप्त होनेमें असमर्थ हैं। [**अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः**] जीव-पुद्गलको कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि [**अज्ञानात्**] अज्ञानके कारण [**तावत् भाति**] वहाँ तक भासित होती है कि [**यावत्**] जहाँ तक [**विज्ञानार्चिः**] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [**क्रकचवत् अदयं**] करवत्की भाँति निर्दयतासे (उग्रतासे) [**सद्यः भेदम् उत्पाद्य**] जीव-पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके [**न चकास्ति**] प्रकाशित नहीं होती। (50)

भावार्थ :—भेदज्ञान होनेके बाद, जीव और पुद्गलको कर्ताकर्मभाव है ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञानसे कर्ताकर्मभावकी बुद्धि होती है। (50)

गाथार्थ :—[**पुद्गलाः**] पुद्गल [**जीवपरिणामहेतुं**] जीवके परिणामके निमित्तसे [**कर्मत्वं**] कर्मरूपमें [**परिणमन्ति**] परिणमित होते हैं, [**तथा एव**] तथा [**जीवः अपि**] जीव भी [**पुद्गलकर्मनिमित्तं**] पुद्गलकर्मके निमित्तसे [**परिणमति**] परिणमन करता है। [**जीवः**] जीव [**कर्मगुणान्**] कर्मके गुणोंको [**न अपि करोति**] नहीं करता [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्म**] कर्म [**जीवगुणान्**] जीवके गुणोंको नहीं करता; [**तु**] परन्तु [**अन्योऽन्यनिमित्तेन**] परस्पर निमित्तसे [**द्वयोः अपि**] दोनोंके [**परिणामं**] परिणाम [**जानीहि**] जानो। [**एतेन कारणेन तु**] इस कारणसे [**आत्मा**] आत्मा [**स्वकेन**] अपने ही [**भावेन**] भावसे [**कर्ता**] कर्ता (कहा जाता) है, [**तु**] परन्तु [**पुद्गलकर्मकृतानां**] पुद्गलकर्मसे किये गये [**सर्वभावानाम्**] समस्त भावोंका [**कर्ता न**] कर्ता नहीं है। (80-81-82)

टीका :—'जीवपरिणामको निमित्त करके पुद्गल, कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होता है'—इसप्रकार जीवके परिणामको और पुद्गलके परिणामको अन्योन्य हेतुत्वका उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे जीवको पुद्गलपरिणामोंके साथ और पुद्गलकर्मको जीवपरिणामोंके साथ कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभावका निषेध न होनेसे, अन्योन्य निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोंके परिणाम (होते) हैं; इसलिये, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है उसीप्रकार अपने भावसे अपना भाव किया जाता है इसलिये, जीव अपने भावका कर्ता कदाचित् है, परन्तु जैसे मिट्टीसे कपड़ा नहीं किया जा सकता उसीप्रकार अपने भावसे परभावका किया जाना अशक्य है, इसलिए (जीव) पुद्गलभावोंका कर्ता तो कदापि नहीं है यह निश्चय है। (80-81-82)

यहाँ ज्ञानी की बात की हैं। अज्ञानी उसे अपने लिये न माने। आगे निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझाया है।

गाथार्थ :—[**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयका [**एवम्**] ऐसा मत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मानम् एव हि**] अपनेको ही [**करोति**] करता है [**तु पुनः**] और फिर [**आत्मा**] आत्मा [**तं च एव आत्मानम्**] अपनेको ही [**वेदयते**] भोगता है ऐसा हे शिष्य! तू [**जानीहि**] जान। (83)

टीका :—जैसे उत्तरङ्ग[1] और निस्तरङ्ग[2] अवस्थाओंको हवाका चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्रको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी

असिद्धि है इसलिये, समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग ऐसा अपनेको करता हुआ स्वयं एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभव अशक्य होनेसे, अपनेको उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्गरूप अनुभवन करता हुआ, स्वयं एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार ससंसार और निःसंसार अवस्थाओंको पुद्गलकर्मके विपाकका [१]सम्भव और असम्भव निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीवको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर ससंसार अथवा निःसंसार अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर ससंसार अथवा निःसंसार ऐसा अपनेको करता हुआ, अपनेको एकको ही करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित न हो; और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभव अशक्य है इसलिये, ससंसार अथवा निःसंसाररूप अपनेको अनुभव करता हुआ, अपनेको एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो। (83)

भावार्थ :—आत्माको परद्रव्य-पुद्गलकर्म-के निमित्तसे ससंसार-निःसंसार अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूपसे स्वयं ही परिणमित होता है। इसलिये वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्मका कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है॥८३॥

यहाँ कहा गया है कि आत्मा स्वयं संसार-निस्संसार अवस्थारूप परिणमती है। अतः वह स्वयं ही अपनी कर्ता-भोक्ता बनती है।

भावार्थ :—पुद्गलकर्मको परमार्थसे पुद्गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल अपने रागादिक परिणामोंको करता है। और पुद्गलद्रव्य ही कर्मको भोगता है; जीव तो पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाले अपने रागादिक परिणामोंको भोगता है। परन्तु जीव और पुद्गलका ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानीको ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। अनादि अज्ञानके कारण ऐसा अनादिकालसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

परमार्थसे जीव-पुद्गलकी प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जब तक भेदज्ञान न हो तब तक बाहरसे उनकी प्रवृत्ति एकसी दिखाई देती है। अज्ञानीको जीव-पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह ऊपरी दृष्टिसे जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीवका स्वरूप बताकर, अज्ञानीके इस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं॥८४॥

यहाँ बताया गया है कि अज्ञानी की मान्यता में कर्ता-कर्म भाव होता है। ज्ञानी इस प्रतिभासको व्यवहार कहते है। ज्ञानी को कर्ता-कर्म भाव नहीं होता। बल्कि निमित्त-नैमित्तिक भाव होते हैं।

भावार्थ :—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्‌गलके परिणामको करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो। आत्माकी और पुद्‌गलकी—दोनोंकी क्रिया एक आत्मा ही करता है ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जड़-चेतनकी एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्योंके पलट जानेसे सबका लोप हो जायेगा—यह महादोष उत्पन्न होगा ।।८६।।

श्लोकार्थ :—[**यः परिणमति स कर्ता**] जो परिणमित होता है सो कर्ता है, [**यः परिणामः भवेत् तत् कर्म**] (परिणमित होनेवालेका) जो परिणाम है सो कर्म है [**तु**] और [**या परिणतिः सा क्रिया**] जो परिणति है सो क्रिया है; [**त्रयम् अपि**] यह तीनों ही, [**वस्तुतया भिन्नं न**] वस्तुरूपसे भिन्न नहीं हैं। (51)

श्लोकार्थ :—[**एकः परिणमति सदा**] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, [**एकस्य सदा परिणामः जायते**] एकका ही सदा परिणाम होता है (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्था एककी ही होती है) और [**एकस्य परिणतिः स्यात्**] एककी ही परिणति–क्रिया होती है; [**यतः**] क्योंकि [**अनेकम् अपि एकम् एव**] अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है। (52)

श्लोकार्थ :—[**इह**] इस जगत्‌में [**मोहिनाम्**] मोही (अज्ञानी) जीवोंका '[**परं अहम् कुर्वे**] परद्रव्यको मैं करता हूँ' [**इति महाहंकाररूपं तमः**] ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार—[**ननु उच्चकैः दुर्वारं**] जो अत्यन्त दुर्निवार है वह—[**आसंसारतः एव धावति**] अनादि संसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि—[**अहो**] अहो! [**भूतार्थपरिग्रहेण**] परमार्थनयका अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे [**यदि**] यदि [**तत् एकवारं विलयं व्रजेत्**] वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो [**तत्**] तो [**ज्ञानघनस्य आत्मनः**] ज्ञानघन आत्माको [**भूयः**] पुनः [**बन्धनम् किं भवेत्**] बन्धन कैसे हो सकता है? (जीव ज्ञानघन है, इसलिये यथार्थ ज्ञान होनेके बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है? नहीं जाता। और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञानसे बन्ध कैसे हो सकता है? कभी नहीं होता।) (55)

भावार्थ :—यहाँ तात्पर्य यह है कि—अज्ञान तो अनादिसे ही है, परन्तु परमार्थनयके ग्रहणसे, दर्शनमोहका नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्वके न आनेसे मिथ्यात्वका बन्ध भी न हो। और मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका बन्धन कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है ऐसा जानना चाहिये ।५५।

यहाँ कहा गया है कि – "परमार्थनयका अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे..." यानी परमार्थनय को अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय को अनुभव करने से समझना है। इसे शब्दों में ग्रहण नहीं समझना। आगे कहा "यदि वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो सकता है?" अर्थात् एक बार स्वात्मानुभूतिपूर्वक ज्ञानी होने के बाद बन्ध कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। बिना स्वात्मानुभूति के कोई अज्ञानी स्वयं को अबन्धस्वरूप न माने। क्योंकि बिना स्वात्मानुभूति के नयाभास के कारण अज्ञानी को यह मानने का या बोलने का अधिकार ही नहीं है। यह बात निश्चयाभासी उपदेशकों को समझनी आवश्यक हैं।

श्लोकार्थ :—[आत्मा] आत्मा तो [सदा] सदा [आत्मभावान्] अपने भावोंको [करोति] करता है और [परः] परद्रव्य [परभावान्] परके भावोंको करता है; [हि] क्योंकि जो [आत्मनः भावाः] अपने भाव हैं सो तो [आत्मा एव] आप ही है और जो [परस्य ते] परके भाव हैं सो [परः एव] पर ही है (यह नियम है) ।५३। (56)

निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को उपदेश देते हैं कि आत्मा अपने भावों की भी परम अकर्ता है। वे इसी को रटने को और उनपर ध्यान करने को कहते हैं। यह ग़लत है।

भावार्थ :—पुद्गलके परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूपसे परिणमित होते हैं। उस कर्मका विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्वादि अजीव है; और कर्मके निमित्तसे जीव विभावरूप परिणमित होता है वे विभाव परिणाम चेतनके विकार हैं, इसलिये वे जीव हैं। (87)

गाथार्थ :—[मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व, [योगः] योग, [अविरतिः] अविरति और [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीवः] अजीव है सो तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है; [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति और [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [जीवः] जीव है [तु] वह तो [उपयोगः] उपयोग है। (88)

गाथार्थ :—[मोहयुक्तस्य] अनादिसे मोहयुक्त होनेसे [उपयोगस्य] उपयोगके [अनादयः] अनादिसे लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं; वे [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव (ऐसे तीन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये। (89)

गाथार्थ :—[एतेषु च] अनादिसे ये तीन प्रकारके परिणामविकार होनेसे [उपयोगः] आत्माका उपयोग—[शुद्धः] यद्यपि (शुद्धनयसे) शुद्ध, [निरञ्जनः] निरंजन [भावः] (एक) भाव है तथापि—[त्रिविधः] तीन प्रकारका होता हुआ [सः उपयोगः] वह उपयोग [यं] जिस [भावम्] (विकारी) भावको [करोति] स्वयं करता है [तस्य] उस भावका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है। (90)

भावार्थ :—पहले कहा था कि जो परिणमित होता है सो कर्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ, इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ उस भावका उसे कर्ता कहा है। इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना चाहिये। यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होनेसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्माको भी कर्ता कहा जाता है।।९०।।

गाथार्थ :—[त्रिविधः] तीन प्रकारका [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [अहम् क्रोधः] 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है। (94)

टीका :—वास्तवमें यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप

तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता)से समस्त भेदको छिपाकर, भाव्यभावकभावको प्राप्त चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरणसे (–मानों उनका एक आधार हो इस प्रकार) अनुभव करनेसे, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है। (94)

गाथार्थ :—[एवं तु] इसप्रकार [मन्दबुद्धिः] मन्दबुद्धि अर्थात् अज्ञानी [अज्ञानभावेन] अज्ञानभावसे [पराणि द्रव्याणि] पर द्रव्योंको [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानम्] अपनेको [परं] पर [करोति] करता है। (96)

टीका :—वास्तवमें इसप्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादिकी भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ'

यहाँ कहा गया है कि अज्ञानी अपने को जिस रूप में मानता है उसे उसी रूप का आभास (भ्रम) होता है। अज्ञानी अपने राग-द्वेष-अज्ञान के लिये स्वयं जिम्मेदार है।

इत्यादिकी भाँति आत्मा परद्रव्योंको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिये यह आत्मा, यद्यपि वह समस्त वस्तुओंके सम्बन्धसे रहित असीम शुद्ध चैतन्यधातुमय है तथापि, अज्ञानके कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणामवाला होनेसे उस प्रकारके अपने भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। इसप्रकार, भूताविष्ट (जिसके शरीरमें भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुषकी भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुषकी भाँति, आत्माके कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टांतसे समझाते हैं :—

जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञानके कारण भूतको और अपनेको एक करता हुआ, अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओंके अवलम्बन सहित भयंकर [१]आरम्भसे युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ही भाव्य-भावकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावकके लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारोंसे मिश्रित चैतन्यपरिणामविकारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। और जैसे अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेका ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञानके कारण भैंसेको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनुष्योचित जो कमरेके द्वारमेंसे बाहर निकलना उससे च्युत होता हुआ उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है, इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ज्ञेयज्ञायकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं परद्रव्य हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनके विषयभूत किए गए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवके द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होनेसे तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थोंके द्वारा (अपना) केवल बोध (–ज्ञान) ढँका हुआ होनेसे और मृतक क्लेवर (–शरीर)के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। (96)

भावार्थ :—जो परद्रव्यके और परद्रव्यके भावोंके कर्तृत्वको अज्ञान जानता है वह स्वयं कर्ता क्यों बनेगा? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्यका कर्ता बनेगा! इसलिये ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता।।९७।।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[किल] निश्चयसे [स्वयं ज्ञानं भवन् अपि] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [अज्ञानतः तु] अज्ञानके कारण [यः] जो जीव [सतृणाभ्यवहारकारी] घासके साथ एकमेक हुए सुन्दर भोजनको खानेवाले हाथी आदि पशुओंकी भाँति, [रज्यते] राग करता है (रागका और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [असौ] वह, [दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया] श्रीखंडके खट्टे-मीठे स्वादकी अति लोलुपतासे [रसालम् पीत्वा] श्रीखण्डको पीता हुआ भी [गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्] स्वयं गायका दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुषके समान है। (57)

भावार्थ :—पुद्गलकर्मका उदय होने पर, ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञानका ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानके कारण कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावोंका कर्ता होता है। इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भावका और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भावका कर्ता है; परभावका कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है ॥१०२॥

अज्ञानी ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अज्ञान के कारण अज्ञानरूप शुभाशुभ भावों का कर्ता होता है। इसलिये जब कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी को अकर्ता होने का उपदेश देता है मान लेने के लिये कहता है, तब वह उपदेश उलटा अज्ञानी के मिथ्यात्व को ही पुष्ट करता है।

टीका :—यदि जीव कर्ममें स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभावसे स्वयमेव नहीं परिणमता हो, तो वह वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा। ऐसा होनेसे संसारका अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि ''पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक है वह जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, इसलिये संसारका अभाव नहीं होता'', तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इसप्रकार किया जाता है कि—पुद्गलकर्म क्रोधादिक है वह स्वयं अपरिणमते हुए जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, या स्वयं परिणते हुएको ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुएको परके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमते हुएको तो अन्य परिणमानेवालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती। (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।) इसलिये जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होनेसे, जैसे गरुड़के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है उसीप्रकार, अज्ञानस्वभाववाले क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है। इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ। (121-122-123-124-125)

भावार्थ :—जीव परिणामस्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है ऐसा जानना ॥१२१ से १२५॥

यहाँ कहा गया है कि – "जैसे गरुड़के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है.." उसी प्रकार निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को शुद्धात्मा होने का ध्यान कराते हैं और अज्ञानी स्वयं को ऐसा मानने लगते हैं। वह भ्रम का आनंद भी लेते हैं। उन्हें तो पता ही नहीं चलता कि वे भ्रमित हैं। अत: वे स्वयं को वास्तव में वैसे शुद्ध मानने लगते हैं और इस प्रकार अपना वर्तमान भव बिगाड़ते हैं, इससे भविष्य का अनन्त काल भी ख़राब होता है। अज्ञानी को जब निश्चयनय का उपदेश दिया जाता है तब उसके अज्ञान के कारण उसे नयाभास होता है। और अज्ञानी नियम से पर्याय

का ही वेदन करता होने के कारण वह नयाभास से स्वयं को वर्तमान दशा (पर्याय) में ही शुद्धात्मा मानने लगता है। इससे वह निश्चयाभासरूप परिणमता है।

भावार्थ :—ज्ञानीको तो स्व-परका भेदज्ञान हुआ है, इसलिये उसके अपने ज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है; और अज्ञानीको स्व-परका भेदज्ञान नहीं है, इसलिये उसके अज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है ॥१२६॥

गाथार्थ :—[अज्ञानिनः] अज्ञानीके [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है, [तेन] इसलिये अज्ञानी [कर्माणि] कर्मोंको [करोति] करता है, [ज्ञानिनः तु] और ज्ञानीके तो [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (भाव) है, [तस्मात् तु] इसलिये ज्ञानी [कर्माणि] कर्मोंको [न करोति] नहीं करता। (127)

टीका :—अज्ञानीके, सम्यक् प्रकारसे स्व-परका विवेक न होनेके कारण भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई होनेसे, अज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होनेसे, स्व-परके एकत्वके अध्यासके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमेंसे (आत्मस्वरूपमेंसे) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे रागद्वेषके साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त रहा है ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तवमें रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' इसप्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है; इसलिये अज्ञानमय भावके कारण अज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मोंको करता है।

ज्ञानीके तो, सम्यक् प्रकारसे स्वपरविवेकके द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई होनेसे, ज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होनेसे, स्व-परके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमें सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकारसे स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेषसे पृथग्भूतताके (भिन्नत्वके) कारण निजरससे ही जिसके अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तवमें मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् रागद्वेष नहीं करता); इसलिये ज्ञानमय भावके कारण ज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप न करता हुआ कर्मोंको नहीं करता। (127)

भावार्थ :—ज्ञानीका परिणमन अज्ञानीके परिणमनसे भिन्न ही प्रकारका है। अज्ञानीका परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानीका ज्ञानमय है; इसलिये अज्ञानीके क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि समस्त भाव अज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमय ही हैं ॥१२८-१२९॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[ज्ञानिनः] ज्ञानीके [सर्वे भावाः] समस्त भाव [ज्ञाननिर्वृत्ताः हि] ज्ञानसे रचित [भवन्ति] होते हैं [तु] और [अज्ञानिनः] अज्ञानीके [सर्वे अपि ते] समस्त भाव [अज्ञाननिर्वृत्ताः] अज्ञानसे रचित [भवन्ति] होते हैं ।६७।

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] स्वर्णमय भावमेंसे [कुण्डलादयः भावाः] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [अयोमयकात् भावात्] लोहमय भावमेंसे [कटकादयः] लोहमय कड़ा इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानीके (अज्ञानमय भावमेंसे) [बहुविधाः अपि] अनेक प्रकारके

[अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानीके (ज्ञानमय भावमेंसे) [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवन्ति] होते हैं। (130-131)

भावार्थ :—'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे जैसे लोहेमेंसे लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्णमेंसे सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होनेसे उसके (अज्ञानमय भावमेंसे) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होनेसे उसके (ज्ञानमय भावमेंसे) ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अज्ञानीके शुभाशुभ भावोंमें आत्मबुद्धि होनेसे उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि (–ज्ञानी)के यद्यपि चारित्रमोहके उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावोंमें आत्मबुद्धि नहीं हैं, वह उन्हें परके निमित्तसे उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं—वह भविष्यका ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसारपरिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है, और यद्यपि उदयकी [१]बलवत्तासे परिणमता है तथापि ज्ञातृत्वका उल्लंघन करके परिणमता नहीं है; ज्ञानीका स्वामित्व निरन्तर ज्ञानमें ही वर्तता है, इसलिये वह क्रोधादिभावोंका अन्य ज्ञेयोंकी भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं॥१३०-१३१॥

भावार्थ :—यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनोंके कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणम सकता; इसलिये जीवका अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे अलग ही पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम है॥१३७-१३८॥

गाथार्थ :—[जीवस्य तु] यदि जीवके [कर्मणा च सह] कर्मके साथ ही [रागादयः परिणामाः] रागादि परिणाम [खलु भवन्ति] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं) ऐसा माना जाये [एवं] तो इसप्रकार [जीवः कर्म च] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों [रागादित्वम् आपन्ने] रागादिभावको प्राप्त हो जायें। [तु] परन्तु [रागादिभिः परिणामः] रागादिभावसे परिणाम तो [जीवस्य एकस्य] जीवके एकके ही [जायते] होता है, [तत्] इसलिये [कर्मोदयहेतुभिः विना] कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [जीवस्य] जीवका [परिणामः] परिणाम है। (139-140)

भावार्थ :—यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनोंके रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों। किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीवरागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि रागादिपरिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है॥१३९-१४०॥

भावार्थ :—जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्तका क्षोभ नहीं मिटता। जब नयोंका सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतराग दशा होकर स्वरूपकी श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होता है॥६९॥

भावार्थ :—इस ग्रन्थमें पहलेसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्यके परिणाम परनिमित्तसे अनेक होते हैं उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीवको मुख्य शुद्ध चैतन्यमात्र कहा

है। इसप्रकार जीव-पदार्थको शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्ध स्वरूपके स्वादको प्राप्त नहीं करेगा। अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा, इसलिये वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपातको छोड़कर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होने पर ही समयसारको प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनयको जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूपका अनुभव करके, स्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करनी चाहिये।७०।

भावार्थ :—बद्ध अबद्ध, मूढ़ अमूढ़, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त अनन्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ता है उसे चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूपरूप अनुभव होता है।

जीवमें अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है।८९।

यहाँ कहा गया है कि जो मुमुक्षु को किसी भी प्रकार के नय के प्रति पक्षपात है उसे आत्मा का अनुभव नहीं होगा। अज्ञानी की नयाभास के कारण और निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि का ज्ञान न होने के कारण पक्षपाती होने की संभावना अधिक ही होती है।

श्लोकार्थ :—[एवं] इसप्रकार [स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालाम्] जिसमें बहुतसे विकल्पोंका जाल अपने आप उठता है ऐसी [महतीं] बड़ी [नयपक्षकक्षाम्] नयपक्षकक्षाको (नयपक्षकी भूमिको) [व्यतीत्य] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [अन्तः बहिः] भीतर और बाहर [समरसैकरसस्वभावं] समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे [अनुभूतिमात्रम् एकम् स्वं भावम्] अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (—स्वरूपको) [उपयाति] प्राप्त करता है।९०।

अब नयपक्षके त्यागकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत्] विपुल, महान, चञ्चल विकल्परूपी तरंगोंके द्वारा उठते हुए [इदम् एवम् कृत्स्नम् इन्द्रजालम्] इस समस्त इन्द्रजालको [यस्य विस्फुरणम् एव] जिसका स्फुरण मात्र ही [तत्क्षणं] तत्क्षण [अस्यति] उड़ा देता है [तत् चिन्महः अस्मि] वह चिन्मात्र तेजःपुञ्ज मैं हूँ।

भावार्थ :—चैतन्यका अनुभव होने पर समस्त नयोंके विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलयको प्राप्त होता है; ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ।९१।

यहाँ समझनेवाली बात यह है कि जब चैतन्य का अनुभव होता है, तब समस्त नयों के विकल्परुप इन्द्रजाल उसी क्षण विलीन हो जाते हैं; "मैं एक ऐसी चिन्मात्र तेजःपुंज हूं।" निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी यही उपदेश देते हैं

और उसका ही ध्यान करने को भी कहते हैं। इससे यह समझ में आता है कि वे इस बात से अनजान हैं कि यह कोई धारणा (मान लेने) का विषय नहीं है। बल्कि अनुभव करने की बात है। स्वात्मानुभूति होते ही यह भाव अनुभव में आता है। तो सही मार्ग अनुभव करना है, मान लेना नहीं।

गाथार्थ :—[नयपक्षपरिहीनः] नयपक्षसे रहित जीव, [समयप्रतिबद्धः] समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ), [द्वयोः अपि] दोनों ही [नययोः] नयोंके [भणितं] कथनको [केवलं तु] मात्र [जानाति] जानता ही है, [तु] परन्तु [नयपक्षं] नयपक्षको [किञ्चित् अपि] किंचित्मात्र भी [न गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता। (143)

टीका :—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु, निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुए होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञानकी भूमिकाको पार कर चुकनेके कारण) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुए होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानता है परन्तु, अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किये गये, निर्मल नित्य-उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्माके अनुभवन द्वारा) अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होता हुआ होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है। (143)

श्लोकार्थ :—[चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव-परमार्थतया एकम्] चित्-स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं—ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है, इसलिये जो एक है ऐसे [अपारम् समयसारम्] अपार समयसारको मैं, [समस्तां बन्धपद्धतिम्] समस्त बन्धपद्धतिको [अपास्य] दूर करके अर्थात् कर्मोदयसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर, [चेतये] अनुभव करता हूँ। (92)

भावार्थ :—निर्विकल्प अनुभव होने पर, जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नहीं है ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता—ऐसा जानना।९२।

अब यह कहते हैं कि नियमसे यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है :—

जैसे कि पहले उल्लेख किया गया है, इस "समयसार" शास्त्र में मुख्यत: ज्ञानी की स्वात्मानुभूति का ही वर्णन किया गया है ताकि कोई भी अज्ञानी इसे समझ सके, ज्ञानी अपनी अनुभूति की जाँच कर सके और अज्ञानी भी अपनी मंज़िल (प्रतियोग्यस्थान) निर्धारित कर सके।

गाथार्थ :—[यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सर्व नयपक्षोंसे रहित [भणितः] कहा गया

है [सः] वह [समयसारः] समयसार है; [एषः] इसीको (–समयसारको ही) [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान [इति] ऐसी [व्यपदेशम्] संज्ञा (नाम) [लभते] मिलती है। (नामोंके भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।) (144)

टीका :—जो वास्तवमें समस्त नयपक्षोंके द्वारा खंडित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है ऐसा है, सो समयसार है; वास्तवमें इस एकको ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम प्राप्त है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे अलग नहीं है, एक ही है।)

प्रथम, श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, और फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारणभूत जो इन्द्रियों द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ उन सबको मर्यादामें लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको (–मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नाना प्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्वको भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर, तत्काल निज रससे ही प्रगट होनेवाले, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उसीसमय आत्मा सम्यक्‌तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। (144)

यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के लिये आत्मसन्मुखता प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। हम बार-बार मुमुक्षुओं से इस बात पर ज़ोर देते हैं कि जब तक परसन्मुखता होगी तब तक सम्यग्दर्शन (आत्मप्राप्ति) संभव ही नहीं है।

श्लोकार्थ :—[नयानां पक्षैः विना] नयोंके पक्षोंके रहित, [अचलं अविकल्पभावम्] अचल निर्विकल्पभावको [आक्रामन्] प्राप्त होता हुआ [यः समयस्य सारः भाति] जो समयका (आत्माका) सार प्रकाशित होता है [सः एषः] वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)—[निभृतैः स्वयम् आस्वाद्यमानः] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषोंके द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (–अनुभवमें आता है) वह—[विज्ञान-एक-रसः भगवान्] विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान् है, [पुण्यः पुराणः पुमान्] पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे [ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं] ज्ञान कहो या दर्शन वह यह (समयसार) ही है; [अथवा किम्] अथवा अधिक क्या कहें? [यत् किंचन अपि अयम् एकः] जो कुछ है सो यह एक ही है (–मात्र भिन्न-भिन्न नामसे कहा जाता है)।९३।

जैसे कि हमने पहले उल्लेख किया है, यहाँ "समयसार" का अर्थ "शुद्धात्मा" है जो आत्मलीन पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, अनुभव में आती है। अत: यह निश्चित होता है कि "समयसार" शास्त्र में मुख्यत: ज्ञानी की स्वात्मानुभूति का ही वर्णन किया गया है। ताकि कोई भी अज्ञानी इसे समझ सके, ज्ञानी अपनी अनुभूति की जाँच कर सके और अज्ञानी भी अपनी मंज़िल (प्रतियोग्यस्थान) निर्धारित कर सके। ऐसे भाव यदि अज्ञानी भाता है तब निश्चित ही वह निश्चयाभासी बनेगा। यही विडंबना है उन निश्चयाभासी उपदेशकों की जो अज्ञानियों को भी यही उपदेश देते हैं, वे ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे वे ज्ञानी हैं। परन्तु उनकी इस अज्ञानता से उनका ज्ञान संदिग्ध हो जाता

है।

श्लोकार्थ :—[तोयवत्] जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो उसे दूरसे ही ढालवाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी, पानीको पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूहमें आ मिलता है; इसीप्रकार [अयं] यह आत्मा [निज-ओघात् च्युतः] अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत होकर [भूरि-विकल्प-जाल-गहने दूरं भ्राम्यन्] प्रचुर विकल्पजालोंके गहन वनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे [दूरात् एव] दूरसे ही [विवेक-निम्न-गमनात्] विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा [निज-ओघं बलात् नीतः] अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए [तद्-एक-रसिनाम्] केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोंको [विज्ञान-एक-रसः आत्मा] जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभवमें आता है ऐसा वह आत्मा, [आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्] आत्माको आत्मामें ही खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), [सदा गतानुगतताम् आयाति] सदा विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है। (94)

यहाँ कहा गया है कि "केवल विज्ञानघन के रसीले पुरुष को ही एक विज्ञानरसवाला अनुभव में आता है ऐसा वह आत्मा..." यानी रुचि अनुयायी वीर्य के सिद्वान्त के अनुसार जो आपको पसन्द है, जिसमें आपको रस आता है, उसके लिये सहज ही पुरुषार्थ होता है। अतः सभी को अपने रस को चकासना चाहिये और बहिरात्मपन छोड़कर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

भावार्थ :—जब तक विकल्पभाव है तब तक कर्ताकर्मभाव है; जब विकल्पका अभाव हो जाता है तब कर्ताकर्मभावका भी अभाव हो जाता है।९५।

चूँकि ज्ञानी शुद्वात्मा का अनुभव करता है इसलिये उसके अभिप्राय में कर्ता-कर्म भाव का अभाव ही होता है।

—३—

पुण्य-पाप अधिकार

श्लोकार्थ :—[अथ] अब (कर्ताकर्म अधिकारके पश्चात्), [शुभ-अशुभ-भेदतः] शुभ और अशुभके भेदसे [द्वितयतां गतम् तत् कर्म] द्वित्वको प्राप्त उस कर्मको [ऐक्यम् उपानयन्] एकरूप करता हुआ, [ग्लपित-निर्भर-मोहरजा] जिसने अत्यंत मोहरजको दूर कर दिया है ऐसा [अयं अवबोध-सुधाप्लवः] यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर) ज्ञानसुधांशु (सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) [स्वयम्] स्वयं [उदेति] उदयको प्राप्त होता है। (100)

जब शुद्वात्मा का अनुभव होता है तो उसमें कोई विशेषभाव नहीं होते। अतः उस अपेक्षा से शुभ और अशुभ दोनों ही विशेषभाव होने के कारण एकरूपपन पाते हैं। दूसरे, वे दोनों ही आश्रव और बन्ध अपेक्षा से भी एकरूपपन पाते हैं।

श्लोकार्थ :—(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा शूद्राके घर पला। उनमेंसे) [एकः] एक तो [ब्राह्मणत्व-अभिमानात्] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे [दूरात्] दूरसे ही [मदिरां] मदिराका [त्यजति] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तब [अन्यः] दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [नित्यं] नित्य [तया एव] मदिरासे ही [स्नाति] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है। [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों [शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्राके पेटसे एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं वे [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [अपि च] तथापि [जातिभेदभ्रमेण] जातिभेदके भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। इसीप्रकार पुण्य और पापके सम्बन्धमें समझना चाहिए। (101)

शुद्धात्मा की अनुभूति की अपेक्षा से शुभ और अशुभ दोनों ही विशेषभाव होने के कारण उस अपेक्षा से एकाकारपन पाते हैं।

गाथार्थ :—[अशुभं कर्म] अशुभ कर्म [कुशीलं] कुशील है (–बुरा है) [अपि च] और [शुभकर्म] शुभ कर्म [सुशीलम्] सुशील है (–अच्छा है) ऐसा [जानीथ] तुम जानते हो! [तत्] (किन्तु) वह [सुशीलं] सुशील [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है [यत्] जो [संसारं] (जीवको) संसारमें [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है? (145)

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक है; और उसके एक होनेसे कर्मके कारणमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके स्वभावमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होनेसे एक ही है; उसके एक होनेसे कर्मके अनुभवमें (–स्वादमें) भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। (145) टीका

यहाँ आश्रव और बंध की अपेक्षा से दोनों को संसाररूप में दर्शाया गया है। आगे कहते है कि "कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे स्वाधीनताका नाश होता है" यानी शुभ-अशुभ दोनों ही विशेषभाव होने से वे निर्विकल्प अनुभूति में नहीं होते। वह निर्विकल्प अनुभूति ही कालक्रम से श्रेणी चढने के लिये कारण बनती है। इसलिये वह परम उपादेय है। ज्ञानी को उसीमें रहनेका उपदेश है। ईसी लिये ज्ञानी के लिये शुभ-अशुभ कुशील कहे है। ज्ञानी का अभिप्राय भी यही होता है, इसलिये वह अधिकत: निर्विकल्प अनुभूति में रहने के लिये ही कार्यरत होता है।

गाथार्थ :—[तस्मात् तु] इसलिये [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशीलोंके साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो, [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनताका नाश होता है (अथवा तो अपने द्वारा ही अपना घात होता है)। (147)

एक ज्ञानी के लिये आत्मस्थिरता को छोड़कर बाक़ी सब कुछ कुशील है। क्योंकि यदि वे आत्मस्थिरता से मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं, तो अभी भी उनके लिये संसार ख़डा ही है। उस अपेक्षा से शुभ-अशुभ दोनों को कुशील कहा है। दूसरे, वे दोनों ही आश्रव और बन्ध अपेक्षा से भी कुशील हैं।

गाथार्थ :—[**यथा नाम**] जैसे [**कोऽपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**कुत्सितशीलं**] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [**जनं**] पुरुषको [**विज्ञाय**] जानकर [**तेन समकं**] उसके साथ [**संसर्गं च रागकरणं**] संसर्ग और राग करना [**वर्जयति**] छोड़ देता है, [**एवम् एव च**] इसीप्रकार [**स्वभावरताः**] स्वभावमें रत पुरुष [**कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं**] कर्मप्रकृतिके शील-स्वभावको [**कुत्सितं**] कुत्सित अर्थात् खराब [**ज्ञात्वा**] जानकर [**तत्संसर्गं**] उसके साथे संसर्ग [**वर्जयन्ति**] छोड़ देते हैं [**परिहरन्ति च**] और राग छोड़ देते हैं। (148-149)

ऊपर बताए अनुसार के ही भाव हैं। "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं।

गाथार्थ :—[**रक्तः जीवः**] रागी जीव [**कर्म**] कर्म [**बध्नाति**] बाँधता है और [**विरागसम्प्राप्तः**] वैराग्यको प्राप्त जीव [**मुच्यते**] कर्मसे छूटता है—[**एषः**] यह [**जिनोपदेशः**] जिनेन्द्रभगवानका उपदेश है; [**तस्मात्**] इसलिये (हे भव्य जीव!) तू [**कर्मसु**] कर्मोंमें [**मा रज्यस्व**] प्रीति–राग मत कर। (150)

यहाँ आचार्य भगवंत उपदेश देते हैं कि वैराग्य प्राप्त करना चाहिये। वे निश्चयाभासी उपदेशकों की तरह उपदेश नहीं देते हैं।

श्लोकार्थ :—[**सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे**] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मका निषेध कर देने पर और [**नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते**] इसप्रकार निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था प्रवर्तमान होने पर [**मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति**] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; [**तदा**] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब [**ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि**] ज्ञानमें आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही [**एषां**] उन मुनियोंको [**शरणं**] शरण है; [**एते**] वे [**तत्र निरताः**] उस ज्ञानमें लीन होते हुए [**परमम् अमृतं**] परम अमृतका [**स्वयं**] स्वयं [**विन्दन्ति**] अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं। (104)

गाथार्थ :—[**खलु**] निश्चयसे [**यः**] जो [**परमार्थः**] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [**समयः**] समय है, [**शुद्धः**] शुद्ध है, [**केवली**] केवली है, [**मुनिः**] मुनि है, [**ज्ञानी**] ज्ञानी है, [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभावमें [**स्थिताः**] स्थित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] निर्वाणको [**प्राप्नुवन्ति**] प्राप्त होते हैं। (151)

गाथार्थ :—[**परमार्थे तु**] परमार्थमें [**अस्थितः**] अस्थित [**यः**] जो जीव [**तपः करोति**] तप करता है [**च**] और [**व्रतं धारयति**] व्रत धारण करता है, [**तत्सर्वं**] उसके उन सब तप और व्रतको [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**बालतपः**] बालतप और [**बालव्रतं**] बालव्रत [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं। (152)

अज्ञानी के व्रत-तप बालव्रत और बालतप कहलाते हैं। उन्होंने व्रत-तप छोड़ने को नहीं कहा, बल्कि उसके अनुरुप गुणस्थानक प्राप्त करने के लिये कहा है।

गाथार्थ :—[**व्रतनियमान्**] व्रत और नियमोंको [**धारयन्तः**] धारण करते हुए भी [**तथा**] तथा [**शीलानि च तपः**] शील और तप [**कुर्वन्तः**] करते हुए भी [**ये**] जो

[परमार्थबाह्याः] परमार्थसे बाह्य हैं (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञानका—ज्ञानस्वरूप आत्माका जिसको श्रद्धान नहीं है) [ते] वे [निर्वाणं] निर्वाणको [न विन्दन्ति] प्राप्त नहीं होते। (153)

अज्ञानी को बहिरात्मा कहा है। अतः उसे आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया है। परमार्थसे बाह्य=अज्ञानी। ज्ञानस्वरूप आत्माका जिसको श्रद्धान नहीं है=जिसे आत्मानुभूति नहीं है वैसा अज्ञानी।

श्लोकार्थ :—[यद् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूपसे और अचलरूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ—परिणमता हुआ भासित होता है [अयं शिवस्य हेतुः] वही मोक्षका हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि शिवः इति] वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; [अतः अन्यत्] उसके अतिरिक्त जो अन्य कुछ है [बन्धस्य] वह बन्धका हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि बन्धः इति] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। [ततः] इसलिये [ज्ञानात्मत्वं भवनम्] ज्ञानस्वरूप होनेका (–ज्ञानस्वरूप परिणमित होनेका) अर्थात् [अनुभूतिः हि] अनुभूति करनेका ही [विहितम्] आगममें विधान है।१०५।

गाथार्थ :—[ये] जो [परमार्थबाह्या] परमार्थसे बाह्य हैं [ते] वे [मोक्षहेतुम्] मोक्षके हेतुको [अजानन्तः] न जानते हुए—[संसारगमनहेतुम् अपि] संसारगमनका हेतु होने पर भी—[अज्ञानेन] अज्ञानसे [पुण्यम्] पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) [इच्छन्ति] चाहते हैं। (154)

अज्ञानी को बहिरात्मा कहा है। इसलिये उसे बाहरी माहत्म्य-अहोभाव अधिक ही होता है। चूँकि यह पुण्य से मिलते है। इस कारण वह पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानता है, पुण्य को ही धर्म समझता है।

भावार्थ :—कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिककी प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा, लक्ष तथा अनुभव न कर सकनेसे, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामोंको छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामोंमें (शुभ परिणामोंमें) राचते हैं। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है।) इसप्रकार वे—यद्यपि वास्तविकतया सर्वकर्मरहित आत्मस्वभावका अनुभवन ही मोक्षका कारण है तथापि—कर्मानुभवके अल्पबहुत्वको ही बन्ध-मोक्षका कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोंका मोक्षके हेतुके रूपमें आश्रय करते हैं।।१५४।।

गाथार्थ :—[निश्चयार्थं] निश्चयनयके विषयको [मुक्त्वा] छोड़कर [विद्वांसः] विद्वान् [व्यवहारेण] व्यवहारके द्वारा [प्रवर्तन्ते] प्रवर्तते हैं; [तु] परन्तु [परमार्थम् आश्रितानां] परमार्थके (–आत्मस्वरूपके) आश्रित [यतीनां] यतीश्वरोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मका नाश [विहितः] आगममें कहा गया है। (केवल व्यवहारमें प्रवर्तन करनेवाले पंडितोंके कर्मक्षय नहीं होता।) (156)

टीका :—कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतुसे अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्तहीका निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्षहेतु) अन्य द्रव्यके स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिये उसके स्व-भावसे ज्ञानका भवन (होना) नहीं बनता,—मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्यके स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है, इसलिये उसके स्वभावके द्वारा ज्ञानका भवन (होना) बनता है। (156)

जो अज्ञानी निश्चयनय के विषय में कोरी विद्वता प्राप्त करके केवल उसी में रमते हैं, उसे ही शब्दों और प्रवचनों का विषय बना देते हैं, वास्तव में वह व्यवहार ही है। क्योंकि निश्चयनय का विषय अनुभूति का विषय है। बल्कि जब वह शब्दों में व्यक्त होता है तो उसे भी व्यवहार कहा जाता है। अज्ञानी लोग ऐसे व्यवहार में रमकर संतुष्टि महसूस करते हैं। अतः इसकी अनुभूति महत्वपूर्ण है यह समझाया गया है।

गाथार्थ :—[**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है—तिरोभूत हो जाता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**मिथ्यात्वमलावच्छन्नं**] मिथ्यात्वरूपी मैलसे लिप्त होता हुआ—व्याप्त होता हुआ [**सम्यक्त्वं खलु**] सम्यक्त्व वास्तवमें तिरोभूत हो जाता है [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिये [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलनसे लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो जाता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**अज्ञानमलावच्छन्नं**] अज्ञानरूपी मैलसे लिप्त होता हुआ—व्याप्त होता हुआ [**ज्ञानं भवति**] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिये। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो जाता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**कषायमलावच्छन्नं**] कषायरूपी मेलसे लिप्त होता हुआ–व्याप्त होता हुआ [**चारित्रम् अपि**] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिए। (157-158-159)

गाथार्थ :—[**सः**] वह आत्मा [**सर्वज्ञानदर्शी**] (स्वभावसे) सर्वको जानने–देखनेवाला है तथापि [**निजेन कर्मरजसा**] अपने कर्ममलसे [**अवच्छन्नः**] लिप्त होता हुआ–व्याप्त होता हुआ [**संसारसमापन्नः**] संसारको प्राप्त हुआ वह [**सर्वतः**] सर्व प्रकारसे [**सर्वम्**] सर्वको [**न विजानाति**] नहीं जानता। (160)

गाथार्थ :—[**सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं**] सम्यक्त्वको रोकनेवाला [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरोंने [**परिकथितम्**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि होता है [**इति ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिए। [**ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं**] ज्ञानको रोकनेवाला [**अज्ञानं**] अज्ञान है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरोंने [**परिकथितम्**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**भवति**] होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिए [**चारित्रप्रतिनिबद्धः**] चारित्रको रोकनेवाला [**कषायः**] कषाय है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरोंने [**परिकथितः**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**अचारित्रः**] अचारित्रवान [**भवति**] होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिए। (161-162-163)

यहाँ कहा गया है कि "अज्ञान ही ज्ञान को रोकता है। इसके उदय से जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना।" यहाँ यह समझाया है कि जो अज्ञानी निश्चयनय के विषय में कोरी विद्वता प्राप्त करके केवल उसी में रमते हैं, उसे ही शब्दों और प्रवचनों का विषय बना देते हैं, वे अवश्य ही निश्चयाभासी हैं। क्योंकि उन्हें लगता है कि ज्ञान की बातें करने से, प्रवचन देने से, प्रवचन सुनने से, ध्यान करने से ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होगी। उनके इस प्रयत्न से शायद ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हो भी जाय परन्तु ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति के लिये तो दर्शनमोहनीय कर्म के ऊपर काम करना आवश्यक है। हम अज्ञानतावश इसके महत्व को कम आँककर यह भूल अनादिकाल से करते आ रहे हैं। इसलिये नौ पूर्वों का ज्ञान कई बार सीखने पर भी वह ज्ञान अज्ञानमय ही रह गया है। तो समझने की बात यह है कि

हमारा पुरुषार्थ दर्शनमोहनीय को कम करने के लिये होना चाहिये। केवल जानकारीवाला ज्ञान होने के कारण काम नहीं चल सकता। कई लोग कहते हैं कि जानकारी से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आसान हो जायेगी। अगर ऐसा है तब तो हमें नौ पूर्वों की जानकारी से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाना चाहिये था। क्योंकि हमने नौ पूर्वों की जानकारी तो कई बार अर्जित की है, ऐसा भगवानने बताया है। हमारी यह ग़लतफ़हमी हमें तुरंत ही दूर करनी चाहिये। इससे जानकारी तो बढ़ेगी परन्तु वैराग्यादि योग्यताओं के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो दुर्लभ ही रहेगी।

श्लोकार्थ :—[कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः] कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर (अर्थात् (कर्मनयके पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं, [यत्] क्योंकि [ज्ञानं न जानन्ति] वे ज्ञानको नहीं जानते। [ज्ञाननय-एषिणः अपि मग्नाः] ज्ञाननयके इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं, [यत्] क्योंकि [अतिस्वच्छन्दमन्द-उद्यमाः] वे स्वच्छंदतासे अत्यन्त मन्द-उद्यमी हैं (–वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषयकषायमें वर्तते हैं)। [ते विश्वस्य उपरि तरन्ति] वे जीव विश्वके ऊपर तैरते हैं [ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति] जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए–परिणमते हुए कर्म नहीं करते [च] और [जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति] कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (–स्वरूपमें उद्यमी रहते हैं)। (111)

भावार्थ :—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया है, क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।

यहाँ कहा गया है कि किसी भी एकान्त (निश्चयाभास या व्यवहाराभास) से आत्मप्राप्ति संभव नहीं है।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे अथवा अपने आप ही अन्तरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या प्रकारसे कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणतिमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपनेको सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनचारित्रके क्रियाकाण्डको निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती लोग जो कि स्वरूपका कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामोंको छोड़कर स्वच्छंदी होकर विषय-कषायमें वर्तते हैं वे भी संसारसमुद्रमें डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मको हेय जानते हैं और शुद्ध परिणतिको ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मको ही नहीं, किन्तु शुभ कर्मको भी छोड़कर, स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये निरन्तर उद्यमी रहते हैं—वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता होने तक उसका पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जब तक, पुरुषार्थकी अपूर्णताके कारण, शुभाशुभ परिणामोंसे छूटकर स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता तब तक–यद्यपि स्वरूपस्थिरताका आन्तरिक-आलम्बन (अन्तःसाधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है तथापि—आन्तरिकआलम्बन लेनेवालेको जो बाह्य आलम्बनरूप कहे जाते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूपके विचार आदि) शुभ परिणामोंमें वे जीव हेयबुद्धिसे प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मोंको निरर्थक मानकर तथा छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी बुद्धि उन्हें कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मका नाश करके, संसारसे निवृत्त होते हैं।१११।

यहाँ कहा गया है कि "कुछ लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते और सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों (निश्चयाभासी या व्यवहाराभासी या उभयाभासी) के उपदेश से या स्वयमेव ही अंतरंग में ज्ञान का स्वरुप मिथ्या कल्पना करके उसके प्रति पक्षपाती होते हैं। अपनी परिणति में कोई भी परिवर्तन हुए बिना ही वे स्वयं को अबन्ध मान लेते हैं..." यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो लोग निश्चयनय को मान लेने की बात करते हैं, वे उसपर ध्यान करने के लिये भी कहते हैं। और उनका मानना है कि ऐसा करने से ही स्वात्मानुभूति होगी। वे स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं। इन्हें यहाँ मिथ्यादृष्टि कहा है। इसलिये, लोगों को ऐसे उपदेशकों से सावधान रहना चाहिये क्योंकि वे लोगों को इस जीवन में और आनेवाले अनंतकाल के लिये दुखी करते हैं। वैसे निश्चयाभासी उपदेशक ज्ञानी को भी उभयाभासी मानते है और स्वयं को ज्ञानी मानते है।

—४—

आस्रव अधिकार

श्लोकार्थ :—[अथ] अब [समररंगपरागतम्] समरांगणमें आये हुए, [महामदनिर्भरमन्थरं] महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त [आस्रवम्] आस्रवको [अयम् दुर्जयबोधधनुर्धरः] यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर [जयति] जीत लेता है—[उदारगभीरमहोदयः] कि जिस ज्ञानरूप बाणावलीका महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जीतनेके लिये जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना वह पूरा करता है) और गंभीर है (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते)। (113)

भावार्थ :—यहाँ आस्रवने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्यमें अनेक रसोंका वर्णन होता है, इसलिये यहाँ रसवत् अलंकारके द्वारा शान्तरसमें वीररसको प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूप धनुर्धर आस्रवको जीतता है'। समस्त विश्वको जीतकर मदोन्मत हुआ आस्रव संग्रामभूमिमें आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे अधिक बलवान योद्धा है, इसलिये वह आस्रवको जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है।११३।

यहाँ कहे अनुसार ज्ञानी द्वारा अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश संभव है। "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। परन्तु निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी को भी अबन्धस्वरूप का ही उपदेश देते है। जिससे भ्रम होता है।

गाथार्थ :—[मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण, [कषाययोगौ च] कषाय और योग—यह आस्रव [संज्ञासंज्ञाः तु] संज्ञ (चेतनके विकार) भी है और असंज्ञ (पुद्गलके विकार) भी हैं। [बहुविधभेदाः] विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव—[जीवे] जो कि जीवमें उत्पन्न होते हैं वे—[तस्य एव] जीवके ही [अनन्यपरिणामाः] अनन्य परिणाम हैं। [ते तु] और असंज्ञ आस्रव [ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मके [कारणं] कारण (निमित्त) [भवन्ति] होते हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनका भी (असंज्ञ आस्रवोंके भी कर्मबंधका निमित्त होनेमें) [रागद्वेषादिभावकरः जीवः] रागद्वेषादि भाव करनेवाला जीव [भवति] कारण (निमित्त) होता है। (164-165)

कई लोग "समयसार" शास्त्र के आधार पर कहते हैं कि आत्मा राग नहीं करती। आचार्य उन्हें यहाँ उत्तर देते हैं कि संज्ञ राग-द्वेष चेतन का विकार है। वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। अतः यह निश्चित है कि अज्ञानी रागी-द्वेषी होता है, जबकि ज्ञानी के अभिप्राय में राग-द्वेष नहीं होते। ज्ञानी को राग-द्वेषयुक्त भाव में 'मैंपन' (अहम्) नहीं होता। यही बात निश्चयाभासी उपदेशकों द्वारा अज्ञानियों को भी मान लेने को कही जा रही है, जो उनकी बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है। यही चीज़ उन्हें (निश्चयाभासी प्रचारकों का) और उनको सुननेवाले भोलेभाले लोगों का अनन्तकाल बिगाड़ देती है। दुःखमय बना देती है। इस वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल में सबसे बड़ी करुणाजनक बात यह है कि लोग धर्म के नाम पर स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा दे रहे हैं।

गाथार्थ :—[सम्यग्दृष्टेः तु] सम्यग्दृष्टिके [आस्रवबन्धः] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध [नास्ति] नहीं है, [आस्रवनिरोधः] (क्योंकि) आस्रवका (भावास्रवका) निरोध है; [तानि] नवीन कर्मोंको [अबध्नन्] नहीं बाँधता [सः] वह, [सन्ति] सत्तामें रहे हुए [पूर्वनिबद्धानि] पूर्वबद्ध कर्मोंको [जानाति] जानता ही है। (166)

टीका :—वास्तवमें ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध–अभावरूप होते हैं, क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिये अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष-मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं उनका निरोध होनेसे, ज्ञानीके आस्रवका निरोध होता ही है। इसलिये ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मोंको नहीं बाँधता,—सदा अकर्तृत्व होनेसे नवीन कर्मोंको न बाँधता हुआ सत्तामें रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मोंको, स्वयं ज्ञानस्वभाववान् होनेसे, मात्र जानता ही है। (ज्ञानीका ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्मको बाँधे, ज्ञातृत्व होनेसे कर्मबन्ध नहीं करता।) (166)

भावार्थ :—ज्ञानीके अज्ञानमय भाव नहीं होते, और अज्ञानमय भाव न होनेसे (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होनेसे नवीन बन्ध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्वबद्ध कर्म सत्तामें विद्यमान हैं उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अविरतसम्यग्दृष्टिके भी अज्ञानमय रागद्वेषमोह नहीं होता। जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है वही अज्ञानके पक्षमें माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञानके पक्षमें नहीं है। सम्यग्दृष्टिके सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। उसको चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे जो रागादि होते हैं उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादिको रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिये ज्ञानीके जो रागादि होते हैं वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसे ही हैं; वह आगामी सामान्य संसारका बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध करता है। ऐसे अल्प बन्धको यहाँ नहीं गिना है।।१६६।।

इसप्रकार ज्ञानीके आस्रव न होनेसे बन्ध नहीं होता।

"समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। जिसको कई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी मान लेने के लिये कहते हैं। वे अज्ञानियों को "मैं शुद्धात्मा हूँ" या "मैं त्रिकाली ध्रुव हूँ" या "मैं परम

पुरुष हूँ" इत्यादि भी मान लेने को कहते हैं, ऐसी धारणा कराकर कहते हैं कि तुम निरास्रव ही हो। इस वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल में सबसे बड़ी करुणाजनक बात यह है कि लोग धर्म के नाम पर स्वयं को और कई अन्य लोगों को भी धोखा दे रहे हैं।

श्लोकार्थ :—[**जीवस्य**] जीवका [**यः**] जो [**रागद्वेषमोहैः बिना**] रागद्वेषमोह रहित, [**ज्ञाननिर्वृत्तः एव भावः**] ज्ञानसे ही रचित भाव [**स्यात्**] है और [**सर्वान् द्रव्यकर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्**] जो सर्व द्रव्यकर्मके आस्रव-समूहको (–अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्मके प्रवाहको) रोकनेवाला है, [**एषः सर्व-भावास्रवाणाम् अभावः**] वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रवके अभावस्वरूप है।(114)

गाथार्थ :—[**तस्य ज्ञानिनः**] उस ज्ञानीके [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**सर्वे अपि**] समस्त [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**पृथ्वीपिण्डसमानाः**] मिट्टीके ढेलेके समान हैं [**तु**] और [**ते**] वे [**कर्मशरीरेण**] (मात्र) कार्मण शरीरके साथ [**बद्धाः**] बँधे हुए हैं। (169)

टीका :—जो पहले अज्ञानसे बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं, इसलिये ज्ञानीके लिये मिट्टीके ढेलेके समान हैं (–जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभावसे ही मात्र कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं—सम्बन्धयुक्त हैं, जीवके साथ नहीं; इसलिये ज्ञानीके स्वभावसे ही द्रव्यास्रवका अभाव सिद्ध है। (169)

यहाँ भी उपरोक्त भाव की ही पुष्टि होती है। इसलिये निश्चयाभासी उपदेशकों को स्वयं को और दूसरे लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये।

श्लोकार्थ :—[**भावास्रव-अभावम् प्रपन्नः**] भावास्रवोंके अभावको प्राप्त और [**द्रव्यास्रवेभ्यः स्वतः एव भिन्नः**] द्रव्यास्रवोंसे तो स्वभावसे ही भिन्न [**अयं ज्ञानी**] यह ज्ञानी—[**सदा ज्ञानमय-एक-भावः**] जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है—[**निरास्रवः**] निरास्रव ही है, [**एकः ज्ञायकः एव**] मात्र एक ज्ञायक ही है। (115)

गाथार्थ :—[**यस्मात् तु**] क्योंकि [**ज्ञानगुणः**] ज्ञानगुण, [**जघन्यात् ज्ञानगुणात्**] जघन्य ज्ञानगुणके कारण [**पुनरपि**] फिरसे भी [**अन्यत्वं**] अन्यरूपसे [**परिणमते**] परिणमन करता है, [**तेन तु**] इसलिये [**सः**] वह (ज्ञानगुण) [**बन्धकः**] कर्मोंका बंधक [**भणितः**] कहा गया है। (171)

टीका :—जब तक ज्ञानगुणका जघन्य भाव है (—क्षायोपशमिक भाव है) तब तक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणामको प्राप्त होता है, इसलिये पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है। वह (ज्ञानगुणका जघन्य भावसे परिणमन), यथाख्यातचारित्र-अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होनेसे, बन्धका कारण ही है। (171)

गाथार्थ :—[**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**सर्वे**] समस्त [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [**सन्ति**] सत्तारूपमें विद्यमान हैं वे [**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोगके प्रयोगानुसार, [**कर्मभावेन**] कर्मभावके द्वारा (–रागादिके द्वारा) [**बध्नन्ति**] नवीन बन्ध करते हैं। ते प्रत्यय, [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य [**भूत्वा**] होकर फिर [**यथा**] जैसे [**उपभोग्यानि**]

उपभोग्य [भवन्ति] होते हैं [तथा] उसीप्रकार, [ज्ञानावरणादिभावैः] ज्ञानावरणादि भावसे [सप्ताष्टविधानि भूतानि] सात-आठ प्रकारसे होनेवाले कर्मोंको [बध्नाति] बाँधते हैं। [सन्ति तु] सत्ता-अवस्थामें वे [निरुपभोग्यानि] निरूपभोग्य हैं अर्थात् भोगनेयोग्य नहीं हैं—[यथा] जैसे [इह] इस जगतमें [बाला स्त्री] बाल स्त्री [पुरुषस्य] पुरुषके लिये निरुपभोग्य है। [यथा] जैसे [तरुणी स्त्री] तरुण स्त्री (युवती) [नरस्य] पुरुषको [बध्नाति] बाँध लेती है, उसीप्रकार [तानि] वे [उपभोग्यानि] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होने पर बन्धन करते हैं [एतेन तु कारणेन] इस कारणसे [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टिको [अबन्धकः] अबन्धक [भणितः] कहा है, क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रवभावके अभावमें [प्रत्ययाः] प्रत्ययोंको [बन्धकाः] (कर्मोंका) बन्धक [न भणिताः] नहीं कहा है। (173-174-175-176)

यहाँ भी उपरोक्त भाव की ही पुष्टि होती है। इसलिये निश्चयाभासी उपदेशकों को स्वयं को और दूसरे लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये।

टीका :—जैसे पहले तो तत्कालकी परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है, किन्तु यौवनको प्राप्त वह पहलेकी परिणीत स्त्री यौवनावस्थामें उपभोग्य होती है और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह, पुरुषके रागभावके कारण ही, पुरुषको बन्धन करती है—वशमें करती है, इसीप्रकार जो पहले तो सत्तावस्थामें अनुपभोग्य हैं, किन्तु विपाक-अवस्थामें उपभोगयोग्य होते हैं ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होने पर भी वे उपयोगके प्रयोग अनुसार (अर्थात् द्रव्यप्रत्ययोंके उपभोगमें उपयोग प्रयुक्त हो तदनुसार), कर्मोदयके कार्यरूप जीवभावके सद्भावके कारण ही, बन्धन करते हैं। इसलिये ज्ञानीके यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदयका कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव है उसके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नहीं हैं। (जैसे यदि पुरुषको रागभाव हो तो ही यौवनावस्थाको प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है इसीप्रकार जीवके आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।) (173-176)

भावार्थ :—द्रव्यास्रवोंके उदय और जीवके रागद्वेषमोहभावका निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवोंके उदय बिना जीवके भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवोंका उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्धके कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता। (173-174-175-176)

यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया गया है। बहुत से लोग इसे नहीं मानते। इसे न मानना ग़लत होगा।

सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वका और अनन्तानुबंधी कषायका उदय न होनेसे उसे उसप्रकारके भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय संबंधी बन्ध भी नहीं होता। (क्षायिक सम्यग्दृष्टिके सत्तामेंसे मिथ्यात्वका क्षय होते समय ही अनन्तानुबंधी कषायका तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभावका भी क्षय हो गया होता है, इसलिये उसे उसप्रकारका बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय मात्र उपशममें—सत्तामें—

ही होनेसे सत्तामें रहा हुआ द्रव्य उदयमें आये बिना उसप्रकारके बन्धका कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिको भी सम्यक्त्वमोहनीयके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाक-उदयमें नहीं आती, इसलिये उसप्रकारका बन्ध नहीं होता।)

अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिके जो चारित्रमोहका उदय विद्यमान है उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है उसीप्रकार उसे नवीन बन्ध होता है; इसलिये गुणस्थानोंके वर्णनमें अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध कहा है, किन्तु वह बन्ध अल्प है, इसलिये उसे सामान्य संसारकी अपेक्षासे बन्धमें नहीं गिना जाता। सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहके उदयमें स्वामित्वभावसे युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूपसे युक्त होता है; और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टिमें युक्तता ही नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टिके रागद्वेषमोहका अभाव कहा गया है। जब तक जीव कर्मका स्वामित्व रखकर कर्मोदयमें परिणमित होता है तब तक ही वह कर्मका कर्ता है; उदयका ज्ञातादृष्टा होकर परके निमित्तसे मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है तब कर्ता नहीं; किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षासे, सम्यग्दृष्टि होनेके बाद चारित्रमोहके उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जब तक मिथ्यात्वका उदय है और उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेषमोहभावसे परिणमित होता है तब तक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्धका यह भेद जानना। और शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेके अभ्यास द्वारा केवलज्ञान प्रगट होनेसे जब जीव साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी होता है तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है यह पहले कहा जा चुका है।।१७३ से १७६।।

भावार्थ :—ज्ञानीके भी पहले अज्ञान-अवस्थामें बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ताअवस्थामें विद्यमान हैं और वे अपने उदयकालमें उदयमें आते रहते हैं। किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानीके कर्मबन्धके कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानीके समस्त रागद्वेषमोहभावोंका अभाव है। यहाँ समस्त रागद्वेषमोहका अभाव बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहकी अपेक्षासे समझना चाहिये।११८।

भावार्थ :—यहाँ, रागद्वेषमोहके अभावके बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता ऐसा अविनाभावी नियम बताया है सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिका अभाव समझना चाहिये। यहाँ मिथ्यात्वसंबंधी रागादिको ही राग माना गया है। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जो कुछ चारित्रमोहसम्बन्धी राग रह जाता है उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावास्रवका अर्थात् रागद्वेषमोहका अभाव है। द्रव्यास्रवोंको बन्धका हेतु होनेमें जो रागद्वेषमोह हैं उनका सम्यग्दृष्टिके अभाव होनेसे बन्धके हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते, इसलिये सम्यग्दृष्टिके –ज्ञानीके–बन्ध नहीं होता। (177-178)

श्लोकार्थ :—[**उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य**] उद्धत ज्ञान (–जो कि किसीके दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनयका आश्रय लेकर [**ये**] जो [**सदा एव**] सदा ही [**ऐकाग्र्यम् एव**] एकाग्रताका ही [**कलयन्ति**] अभ्यास करते हैं [**ते**] वे, [**सततं**] निरन्तर [**रागादिमुक्तमनसः भवन्तः**] रागादिसे रहित चित्तवाले वर्तते हुए, [**बन्धविधुरं समयस्य सारम्**] बंधरहित समयके सारको (अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको) [**पश्यन्ति**] देखते हैं—अनुभव करते हैं। (120)

यहाँ कहा गया है कि "उद्धत ज्ञान जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर..." इसका अर्थ है कि जो (ज्ञानी) शुद्धनय में रहकर यानी शुद्धनय की अनुभूति में रहकर उसी में रहने का अभ्यास करते हैं, वे संक्षेप में ही श्रेणी चढ़ते हैं और बन्धरहित समय के सार को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :—यहाँ शुद्धनयके द्वारा एकाग्रताका अभ्यास करनेको कहा है। 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ'—ऐसा जो आत्मद्रव्यका परिणमन वह शुद्धनय। ऐसे परिणमनके कारण वृत्ति ज्ञानकी ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रताका अभ्यास।

शुद्धनय श्रुतज्ञानका अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, इसलिये इस अपेक्षासे शुद्धनयके द्वारा होनेवाला शुद्ध स्वरूपका अनुभव भी परोक्ष है। और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है इस अपेक्षासे उसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है।१२०।

यहाँ कहा गया है कि "मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ" ऐसा आत्मद्रव्य का परिणाम शुद्धनय है। अर्थात् "मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ" यह स्वात्मानुभूति ही शुद्धनय है। अतः यहाँ निश्चयाभासी उपदेशकों को यह समझना होगा कि यहाँ शुद्धनय को स्वात्मानुभूति अर्थात् आत्मचेतना का परिणाम कहा, शब्दरूप नहीं कहा गया है। निश्चयाभासी उपदेशक निश्चयनय को शब्द के रूप में लेते हैं और स्वयं को वैसा ही मानने लगते हैं और अज्ञानियों को भी वही उपदेश देते हैं। यह करुणाजनक बात है। इससे यह समझ में आता है कि वे इस बात से अनजान हैं कि यह कोई धारणा का विषय नहीं है। बल्कि अनुभव की बात है। स्वात्मानुभूति होते ही यह भाव अनुभव में आता है। तो सही विधि स्वानुभव करना है, मान लेना नहीं।

भावार्थ :—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादिभावोंका सद्भाव होता है, रागादिभावोंके निमित्तसे द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्धके कारण होते हैं और इसलिये कार्मणवर्गणा बन्धरूप परिणमित होती है। टीकामें जो यह कहा है कि "द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मको बन्धरूप परिणमित कराते हैं", सो निमित्तकी अपेक्षासे कहा है। वहाँ यह समझना चाहिए कि "द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तभूत होने पर कार्मणवर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है"।१७९-१८०।

अब इस सर्व कथनका तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[अत्र] यहाँ [इदम् एव तात्पर्यं] यही तात्पर्य है कि [शुद्धनयः न हि हेयः] शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; [हि] क्योंकि [तत्-अत्यागात् बन्धः नास्ति] उसके अत्यागसे (कर्मका) बन्ध नहीं होता और [तत्-त्यागात् बन्धः एव] उसके त्यागसे बन्ध ही होता है।१२२।

'शुद्धनय त्याग करने योग्य नहीं है' इस अर्थको दृढ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[धीर-उदार-महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः] धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थोंमें विस्तारयुक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञानमें स्थिरताको बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञानमें परिणतिको स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय—[कर्मणाम् सर्वंकषः] जो कि कर्मोंका समूल नाश करनेवाला है—[कृतिभिः] पवित्र धर्मात्मा

(सम्यग्दृष्टि) पुरुषोंके द्वारा [जातु] कभी भी [न त्याज्यः] छोड़ने योग्य नहीं है। [तत्रस्थाः] शुद्धनयमें स्थित वे पुरुष, [बहिः निर्यत् स्व-मरीचि-चक्रम् अचिरात् संहृत्य] बाहार निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणोंके समूहको (अर्थात् कर्मके निमित्तसे परोन्मुख जानेवाली ज्ञानकी विशेष व्यक्तियोंको) अल्पकालमें ही समेटकर, [पूर्णं ज्ञान-घन-ओघम् एकम् अचलं शान्तं महः] पूर्ण, ज्ञानघनके पुञ्जरूप, एक, अचल, शान्त तेजको–तेज:पुंजको–[पश्यन्ति] देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। (123)

भावार्थ :—शुद्धनय, ज्ञानके समस्त विशेषोंको गौण करके तथा परनिमित्तसे होनेवाले समस्त भावोंको गौण करके, आत्माको शुद्ध, नित्य, अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिये परिणति शुद्धनयके विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मामें एकाग्र–स्थिर–होती जाती है। इसप्रकार शुद्धनयका आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञानकी विशेष व्यक्तताओंको अल्पकालमें ही समेटकर, शुद्धनयमें (आत्माकी शुद्धताके अनुभवमें) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर अपने आत्माको सर्व कर्मोंसे भिन्न, केवल ज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनयका ऐसा माहात्म्य है। इसलिये श्री गुरुओंका यह उपदेश है कि जब तक शुद्धनयके अवलम्बनसे केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब तक सम्यग्दृष्टि जीवोंको शुद्धनयका त्याग नहीं करना चाहिये। १२३।

यहाँ शुद्धनिश्चनय को शब्दों में व्यक्त नहीं किया गया है, बल्कि इसे परिणतिस्वरूप शुद्धात्मा में एकाग्र-स्थिर होने को बताया गया है। अर्थात् उन्होंने शुद्धात्मा के अनुभव में स्थिर रहने को कहा, जिससे केवलज्ञान प्राप्त होता है। निश्चयाभासी उपदेशक शुद्धनिश्चनय को शब्दरूप से मानते हुए स्वयं को शुद्ध मान लेते हैं और अज्ञानियों को भी यही उपदेश देते हैं। यह करुणाजनक बात है। इससे यह समझ में आता है कि वे इस बात से अनजान हैं कि यह कोई धारणा का विषय नहीं है। बल्कि अनुभूति की बात है। स्वात्मानुभूति होते ही यह भाव अनुभव में आता है। तो सही विधि स्वानुभव करना है, मान लेना नहीं। भ्रम में रहने की नहीं क्योंकि उससे कोई आत्मलाभ नहीं है। बिल्कुल नहीं है।

भावार्थ :—जो पुरुष अंतरंगमें चैतन्यमात्र परम वस्तुको देखता है और शुद्धनयके आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है उस पुरुषको, तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावोंका सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थोंको जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान है। उसके समान दूसरा कोई नहीं है।१२४।

—५—
संवर अधिकार

श्लोकार्थ :—[आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-आस्रव-न्यक्कारात्] अनादि संसारसे लेकर अपने विरोधी संवरको जीतनेसे जो एकान्त-गर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है ऐसे आस्रवका तिरस्कार करनेसे [प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं संवरम्] जिसने सदा विजय

प्राप्त की है ऐसे संवरको [सम्पादयत्] उत्पन्न करती हुई, [पररूपतः व्यावृत्तं] पररूपसे भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न), [सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलतासे प्रकाश करती हुई, [चिन्मयम्] चिन्मय, [उज्ज्वलं] उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [निज-रस-प्राग्भारम्] निजरसके (अपने चैतन्यरसके) भारसे युक्त-अतिशयतासे युक्त [ज्योतिः] ज्योति [उज्जृम्भते] प्रगट होती है, प्रसारित होती है। (125)

गाथार्थ :—[उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोगमें है, [क्रोधादिषु] क्रोधादिमें [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोधे एव हि] क्रोधमें ही है, [उपयोगे] उपयोगमें [खलु] निश्चयसे [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है। [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकारके कर्मोंमें [च अपि] और [नोकर्मणि] नोकर्ममें [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोगमें [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोकर्म] नोकर्म [नो अस्ति] नहीं है।—[एतत् तु] ऐसा [अविपरीतं] अविपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीवके [भवति] होता है, [तदा] तब [उपयोगशुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किञ्चित् भावम्] उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको [न करोति] नहीं करता। (181-182-183)

पहले कहे अनुसार "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी उपदेश देते हैं कि "तुम उपयोगस्वरूप ही हो"। परन्तु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि अज्ञानी स्वयं को नियम से विशेषरूप (पर्यायरूप) में अनुभव करता है। इसलिये यह द्रव्यरूप से अनुभवगम्य उपयोग से अनभिज्ञ है। उसे ज्ञेय का ही अनुभव है। स्वात्मानुभूति होते ही व्यक्त उपयोग में अव्यक्त उपयोग अनुभव में आता है। इसलिये निश्चयाभासी उपदेशकों के लिये यह समझना बहुत ज़रूरी है कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना स्वयं को उपयोगस्वरूप मान लेने से ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु उसके लिये आवश्यक अन्य वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने के बाद ही स्वानुभूति होगी। अन्यथा तो भ्रम ही होगा। अज्ञान ही दृढ़ होगा।

श्लोकार्थ :—[चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः ज्ञानस्य रागस्य च] चिद्रूपताको धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपताको धारण करनेवाला राग—[द्वयोः] दोनोंका, [अन्तः] अन्तरंगमें [दारुणदारणेन] दारुण विदारणके द्वारा (भेद करनेवाला उग्र अभ्यासके द्वारा), [परितः विभागं कृत्वा] सभी ओरसे विभाग करके (—सम्पूर्णतया दोनोंको अलग करके—), [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है; [अधुना] इसलिये अब [एकम् शुद्ध-ज्ञानघन-ओघम् अध्यासिताः] एक शुद्धविज्ञानघनके पुञ्जमें स्थित और [द्वितीय-च्युताः] अन्यसे अर्थात् रागसे रहित [सन्तः] हे सत्पुरुषों ! [मोदध्वम्] मुदित होओ। (126)

पहले कहे अनुसार "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है।

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [कनकम्] सुवर्ण [अग्नितप्तम् अपि] अग्निसे तप्त होता

हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णत्वको [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मोदयतप्तः तु] कर्मके उदयसे तप्त होता हुआ भी [ज्ञानित्वम्] ज्ञानित्वको [न जहाति] नहीं छोड़ता—[एवं] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है, और [अज्ञानी] अज्ञानी [अज्ञानतमोऽवच्छन्नः] अज्ञानांधकारसे आच्छादित होनेसे [आत्मस्वभावम्] आत्माके स्वभावको [अजानन्] न जानता हुआ [रागम् एव] रागको ही [आत्मानम्] आत्मा [मनुते] मानता है। (184-185)

पहले कहे अनुसार "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। अज्ञानी स्वयं को नियम से विशेषरूप (पर्यायरूप-रागादिरूप) में अनुभव करता है। इसलिये निश्चयाभासी उपदेशकों के लिये यह समझना बहुत ज़रूरी है कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना स्वयं को उपयोगस्वरूप मान लेने से ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु वह जीवन अज्ञान-अंधकार में ही डूबा रहता है। इसलिये कल्याण सम्भव ही नहीं है।

भावार्थ :—जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभावसे छूटता नहीं है'। ऐसा जानता होनेसे वह, कर्मोदयके द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्माका अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्माके ज्ञानस्वभावको न जानता हुआ, रागको ही आत्मा मानता है, इसलिये वह रागी, द्वेषी, मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है।।१८४-१८५।।

गाथार्थ :—[शुद्धं तु] शुद्ध आत्माको [विजानन्] जानता हुआ–अनुभव करता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है [तु] और [अशुद्धम्] अशुद्ध [आत्मानं] आत्माको [जानन्] जानता हुआ–अनुभव करता हुआ जीव [अशुद्धम् एव] अशुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है। (186)

श्लोकार्थ :—[यदि] यदि [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे (तीव्र पुरुषार्थ करके) [धारावाहिना बोधनेन] धारावाही ज्ञानसे [शुद्धम् आत्मानम्] शुद्ध आत्माको [ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते] निश्चलतया अनुभव किया करे [तत्] तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा, [उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्] जिसका आत्मानंद प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्माको [पर-परिणति-रोधात्] परपरिणतिके निरोधसे [शुद्धम् एव अभ्युपैति] शुद्ध ही प्राप्त करता है। (127)

ज्ञानी जीव जो धारावाही ज्ञान यानी ज्ञान की अनुभूति में स्थिरता करता है, वह जीव आस्रव का संवर करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। सक्षात् शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। अज्ञानी कितने ही "मैं शुद्धात्मा हूँ" के जाप कर ले पर बिना वैराग्यादि योग्यता के आत्मानुभूति नहीं होती।

गाथार्थ :—[आत्मानम्] आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभयोगोंसे [रुन्ध्वा] रोककर [दर्शनज्ञाने] दर्शनज्ञानमें [स्थितः] स्थित होता हुआ [च] और [अन्यस्मिन्] अन्य (वस्तु)की [इच्छाविरतः] इच्छासे विरत होता हुआ, [यः

आत्मा] जो आत्मा, [सर्वसङ्गमुक्तः] (इच्छारहित होनेसे) सर्व संगसे रहित होता हुआ, [आत्मानम्] (अपने) आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [ध्यायति] ध्याता है, [कर्म नोकर्म] कर्म तथा नोकर्मको [न अपि] नहीं ध्याता, एवं [चेतयिता] (स्वयं) [1]चेतयिता (होनेसे) [एकत्वम्] एकत्वको ही [चिन्तयति] चिन्तवन करता है—चेतता है—अनुभव करता है, [सः] वह (आत्मा), [आत्मानं ध्यायन्] आत्माको ध्याता हुआ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय और [अनन्यमयः] अनन्यमय होता हुआ [अचिरेण एव] अल्प कालमें ही [कर्मप्रविमुक्तम्] कर्मोंसे रहित [आत्मानम्] आत्माको [लभते] प्राप्त करता है। (187-188-189)

यहाँ कहा गया है कि "...इच्छा से विरत होता हुआ.." इससे यह समझा जाता है कि पहले आत्मप्राप्ति के लिये और फिर आत्मस्थिरता के लिये इच्छा का निरोध आवश्यक है। इसलिये सभी मुमुक्षुओं को सबसे पहले इच्छा से विराम पाना आवश्यक है। जो हम बार-बार समझाते हैं।

भावार्थ :—जीवके जब तक आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय है—भेदविज्ञान नहीं है तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसानसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बँधता है, कर्मसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्मसे संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होता है तब शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसानोंका अभाव होता है, और अध्यवसानके अभावसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवका अभाव होता है, आस्रवके अभावसे कर्म नहीं बँधता, कर्मके अभावसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव होता है। —इसप्रकार संवरका अनुक्रम जानना चाहिये ॥१९० से १९२॥

यहाँ अज्ञानी कैसा होता है यह बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। इसलिये, निश्चयाभासी प्रचारकों के लिये यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना, स्वयं को शुद्ध मान लेने से ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति नहीं होगी। और ऐसे जीव को संवर की प्राप्ति भी नहीं होगी। संसार का भी अभाव नहीं होगा। जिसे हम बार-बार समझाते हैं। कई लोग कहते है कि जानकारी से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आसान हो जायेगी। अगर ऐसा है तब तो हमें नौ पूर्वों की जानकारी से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाना चाहिये था। क्योंकि हमने नौ पूर्वों की जानकारी तो कई बार अर्जित की है, ऐसा भगवानने बताया है। हमारी यह ग़लतफ़हमी हमें तुरंत ही दूर करनी चाहिये। इससे जानकारी तो बढ़ेगी परन्तु वैराग्यादि योग्यताओं के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो दुर्लभ ही रहेगी।

—६—

निर्जरा अधिकार

श्लोकार्थ :—[परः संवरः] परम संवर, [रागादि-आस्रव-रोधतः] रागादि आस्रवोंको रोकनेसे [निज-धुरां धृत्वा] अपनी कार्य-धुराको धारण करके (–अपने कार्यको यथार्थतया सँभालकर), [समस्तम् आगामि कर्म] समस्त आगामी कर्मको [भरतः दूरात् एव] अत्यंततया

दूरसे ही [निरुन्धन् स्थितः] रोकता हुआ खड़ा है; [तु] और [प्राग्बद्धं] पूर्वबद्ध (संवर होनेके पहेले बँधे हुए) [तत् एव दग्धुम्] कर्मको जलानेके लिये [अधुना] अब [निर्जरा व्याजृम्भते] निर्जरा (–निर्जरारूप अग्नि–) फैल रही है [यतः] जिससे [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [अपावृतं] निरावरण होती हुई (पुनः) [रागादिभिः न हि मूर्छति] रागादिभावोंके द्वारा मूर्छित नहीं होती—सदा अमूर्छित रहती है। (133)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। ज्ञानी बार-बार स्वात्मानुभूति में रहने का प्रयास करता है। उससे ही संवर और गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

गाथार्थ :—[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [यत्] जो [इन्द्रियैः] इन्द्रियोंके द्वारा [अचेतनानाम्] अचेतन तथा [इतरेषाम्] चेतन [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपभोगम्] उपभोग [करोति] करता है [तत् सर्वं] वह सर्व [निर्जरानिमित्तम्] निर्जराका निमित्त है। (193)

टीका :—विरागीका उपभोग निर्जराके लिये है (अर्थात् निर्जराका कारण होता है)। रागादिभावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिके अचेतन तथा चेतन द्रव्योंका उपभोग बंधका निमित्त ही होता है; वही (उपभोग), रागादिभावोंके अभावसे सम्यग्दृष्टिके लिए निर्जराका निमित्त ही होता है। इसप्रकार द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहा। (193)

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा है और ज्ञानीके रागद्वेषमोहका अभाव कहा है; इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसके इन्द्रियोंके द्वारा भोग दिखाई देता हो तथापि उसे भोगकी सामग्रीके प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि "वह (भोगकी सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदयके निमित्तसे इसका और मेरा संयोग-वियोग है"। जब तक उसे चारित्रमोहका उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होनेसे पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तब तक—जैसे रोगी रोगकी पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तब उसका औषधि इत्यादिके द्वारा उपचार करता है इसीप्रकार—भोगोपभोगसामग्रीके द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोगको या औषधिको अच्छा नहीं मानता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहके उदयको या भोगोपभोगसामग्रीको अच्छा नहीं मानता। और निश्चयसे तो, ज्ञातृत्वके कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मोंको मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है। इसप्रकार रागद्वेषमोहके बिना ही उनके फलको भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्मका आस्रव नहीं होता, कर्मास्रवके बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर जाते हैं, क्योंकि उदयमें आनेके बाद कर्मकी सत्ता रह ही नहीं सकती। इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्मकी निर्जरा हो जानेसे उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागीके भोगोपभोगको निर्जराका ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदयमें आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है।।१९३।।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। अज्ञानी को अभिप्राय में बाह्यसुख के प्रति ही आकर्षण होता है।

श्लोकार्थ :—[**किल**] वास्तवमें [**तत् सामर्थ्यं**] वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य [**ज्ञानस्य एव**] ज्ञानका ही है [**वा**] अथवा [**विरागस्य एव**] विरागका ही है [**यत्**] कि [**कः अपि**] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) [**कर्म भुञ्जानः अपि**] कर्मको भोगता हुआ भी [**कर्मभिः न बध्यते**] कर्मोंसे नहीं बन्धता! (वह अज्ञानीको आश्चर्य उत्पन्न करता है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।) ।१३४।

गाथार्थ :—[**यथा**] जिसप्रकार [**वैद्यः पुरुषः**] वैद्य पुरुष [**विषम् उपभुञ्जानः**] विषको भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [**मरणम् न उपयाति**] मरणको प्राप्त नहीं होता, [**तथा**] उसप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**पुद्गलकर्मणः**] पुद्गलकर्मके [**उदयं**] उदयको [**भुंक्ते**] भोगता है तथापि [**न एव बध्यते**] बन्धता नहीं है। (195)

यहाँ ज्ञानी को एक वैद्य की तरह कहा गया है जो भोग भोगने के बावजूद नए कर्म नहीं बाँधता या कम बाँधता है। यह जानकर अज्ञानी को भी इसी तरह भोग भोगने का अभिप्राय बनता है क्योंकि उसे बाह्यसुख ही पसन्द है और उसके अभिप्राय में बाह्यसुखों के प्रति मूर्छा होती है।

भावार्थ :—ज्ञान और विरागताका ऐसा कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषयसेवनका फल तो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी नहीं भोगता—प्राप्त नहीं करता ।।१३५।।

यदि कोई अज्ञानी इसका उपयोग अपने लिये करता है, तो यह उसके लिये अंतहीन संसार पीड़ा का कारण बन सकता है।

टीका :—जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरणकी क्रियामें प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरणका स्वामित्व न होनेसे प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरणकी क्रियामें प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरणका स्वामित्व होनेसे प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदयसे प्राप्त हुए विषयोंका सेवन करता हुआ भी रागादिभावोंके अभावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेसे असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन न करता हुआ भी रागादिभावोंके सद्भावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला ही है। (197)

श्लोकार्थ :—[**सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति**] सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है; [**यस्मात्**] क्योंकि [**अयं**] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [**स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या**] स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा [**स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्**] अपने वस्तुत्वका (यथार्थ स्वरूपका) अभ्यास करनेके लिये, [**इदं स्वं च परं**] 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' [**व्यतिकरम्**] इस भेदको [**तत्त्वतः**] परमार्थसे [**ज्ञात्वा**] जानकर [**स्वस्मिन् आस्ते**] स्वमें स्थिर होता है और [**परात् रागयोगात्**] परसे—रागके योगसे—[**सर्वतः**] सर्वतः [**विरमति**] विरमता है। (यह रीति ज्ञानवैराग्यकी शक्तिके बिना नहीं हो सकती।) ।१३६।

यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्ञान और वैराग्य के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिये यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को यह उपदेश देता है कि "तुम्हें शुद्ध होना नहीं है, बल्कि यह निर्णय करो कि तुम शुद्ध ही हो", तो ऐसे निश्चयाभासी उपदेशक भी अपनी अज्ञानता को ही उजागर कर रहे हैं। क्योंकि सबसे पहला उपदेश यह होना चाहिये कि आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पानी चाहिये। अपने को शुद्ध मानने का उपदेश तो दूसरों को भी अपने समान निश्चयाभासी बनाने के लिये ही कहा जायेगा।

गाथार्थ :—[कर्मणां] कर्मोंके [उदयविपाकः] उदयका विपाक (फल) [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवोंने [विविधः] अनेक प्रकारका [वर्णितः] कहा है [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं है; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ। (198)

यहाँ ज्ञानी अनुभूतिपूर्वक कहता है कि "मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ"। जब अज्ञानी यही बात कहता है तब वो निश्चयाभासी ही बनता है।

भावार्थ :—इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावोंको सम्यग्दृष्टि पर जानता है और अपनेको एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है॥१९८॥

अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और परको इसप्रकार जानता है :—

गाथार्थ :—[रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है, [तस्य] उसका [विपाकोदयः] विपाकरूप उदय [एषः भवति] यह है, [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न तु] नहीं है; [अहम्] मैं तो [खलु] निश्चयसे [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ। (199)

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है—यह इस गाथा द्वारा कहते हैं :—

गाथार्थ :—[एवं] इसप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] आत्माको (अपनेको) [ज्ञायकस्वभावम्] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] तत्त्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्मके विपाकरूप [उदयं] उदयको [मुञ्चति] छोड़ता है। (200)

"जो जीव परद्रव्यमें आसक्त—रागी हैं और सम्यग्दृष्टित्वका अभिमान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं" इस अर्थका कलशरूप काव्य अब कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—"[अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः, मे जातु: बन्धः न स्यात्] "यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रमें सम्यग्दृष्टिको बन्ध नहीं कहा है)" [इति] ऐसा मानकर [उत्तान-उत्पुलक-वदनाः] जिसका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे [रागिणः] रागी जीव (–परद्रव्यके प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव–) [अपि] भले ही [आचरन्तु] महाव्रतादिका आचरण करें तथा [समितिपरतां आलम्बन्तां] समितियोंकी उत्कृष्टताका आलम्बन करें [अद्य अपि] तथापि [ते पापाः] वे

पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [यतः] क्योंकि वे [आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्] आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे [सम्यक्त्व-रिक्ताः सन्ति] सम्यक्त्वसे रहित हैं। (137)

भावार्थ :—परद्रव्यके प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत-समितिका पालन भले ही करे तथापि स्व-परका ज्ञान न होनेसे वह पापी ही है। जो 'मुझे बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक चारित्रमोहके रागसे बन्ध तो होता ही है और जब तक राग रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञानके होनेमात्रसे बन्धसे नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होनेके बाद उसीमें लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप-चारित्रसे बन्ध कट जाते हैं। इसलिये राग होने पर भी 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि—"व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी जीवको पापी क्यों कहा गया है?" उसका समाधान यह है—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है; जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनयकी प्रधानतामें, व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहनेसे स्याद्वादमतमें कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि—"परद्रव्यमें जब तक राग रहे तब तक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझमें नहीं आई। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्रमोहके उदयसे रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है?" उसका समाधान यह है :—यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-परका ज्ञानश्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत-समितिका पालन करे तथापि जब तक पर जीवोंकी रक्षा तथा शरीर सन्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने शुभ भावोंसे अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवोंका घात होना तथा अयत्नाचाररूपसे प्रवृत्त करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने अशुभ भावोंसे ही अपना बन्ध होना मानता है तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्व-परका ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावोंसे ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्धके कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जब तक जीव परद्रव्यसे ही भलाबुरा मानकर रागद्वेष करता है तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जब तक अपनेमें चारित्रमोहसम्बन्धी रागादिक रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि जीव रागादिमें तथा रागादिकी प्रेरणासे जो परद्रव्यसम्बन्धी शुभाशुभ क्रियामें प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह मानता है कि—यह कर्मका जोर है; उससे निवृत्त होनेमें ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिये रोगका इलाज करनेमें प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके

प्रति राग कैसा? वह उसे मिटानेका ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनसे मानता है। इस भाँति सम्यग्दृष्टिके राग नहीं है। इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टिसे व्याख्यान जानना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी उदयके परिणामको राग नहीं कहा है, इसलिये सम्यग्दृष्टिके ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य होती ही है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके भावोंके) अन्तरको सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्रमें प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—व्यवहारको सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा निश्चयको भलीभाँति जाने बिना व्यवहारसे ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्वमें मूढ़ रहता है। यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्यायसे सत्यार्थको समझ ले तो उसे अवश्य सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है—वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है।१३७।

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता? उसका उत्तर कहते हैं :—

यहाँ यह बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आज अधिकांश लोग निश्चयाभासी या व्यवहाराभासी या उभयाभासी होने की संभावना अधिक हैं। सच्चे स्याद्वाद को समझनेवाले लोग बहुत ही कम हैं। कुछ विरले ही है। उन्हें ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

गाथार्थ :—[**खलु**] वास्तवमें [**यस्य**] जिस जीवके [**रागादीनां तु परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र—लेशमात्र—भी रागादिक [**विद्यते**] वर्तता है [**सः**] वह जीव [**सर्वागमधरः अपि**] भले ही सर्वागमका धारी (समस्त आगमोंको पढ़ा हुआ) हो तथापि [**आत्मानं तु**] आत्माको [**न अपि जानाति**] नहीं जानता; [**च**] और [**आत्मानम्**] आत्माको [**अजानन्**] न जानता हुआ [**सः**] वह [**अनात्मानं अपि**] अनात्माको (परको) भी [**अजानन्**] नहीं जानता; [**जीवाजीवौ**] इसप्रकार जो जीव और अजीवको [**अजानन्**] नहीं जानता वह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है? (201-202)

टीका :—जिसके रागादि अज्ञानमय भावोंके लेशमात्रका भी सद्भाव है वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावके अभावके कारण आत्माको नहीं जानता और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता, क्योंकि स्वरूपसे सत्ता और पररूपसे असत्ता—इन दोनोंके द्वारा एक वस्तुका निश्चय होता है; (जिसे अनात्माका—रागका—निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा—दोनोंका निश्चय होना चाहिये।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्माको नहीं जानता वह जीव और अजीवको नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है, इसलिये रागी (जीव) ज्ञानके अभावके कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता। (201-202)

भावार्थ :—यहाँ 'राग' शब्दसे अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं। और 'अज्ञानमय' कहनेसे मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधीसे हुए रागादिक समझना चाहिये, मिथ्यात्वके बिना चारित्रमोहके उदयका राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिको चारित्रमोहके उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस रागको कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ रोग जानता है और

उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस रागके प्रति राग नहीं है। और सम्यग्दृष्टिके रागका लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है सो इसका कारण इसप्रकार है :—सम्यग्दृष्टिके अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभ राग होता है से वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता—उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता; और निश्चयसे तो उसके रागका स्वामित्व ही नहीं है। इसलिये उसके लेशमात्र राग नहीं है।

यदि कोई जीव रागको भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो—वह भले ही सर्व शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्रका पालन करता हो तथापि—यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्माके परमार्थस्वरूपको नहीं जाना, कर्मोदयजनित रागको ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसीसे अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और परके परमार्थ स्वरूपको न जाननेसे जीव-अजीवके परमार्थ स्वरूपको नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव—इन दो पदार्थोंको ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता ॥२०१-२०२॥

भावार्थ :—जैसे कोई महान् पुरुष मद्य पी करके मलिन स्थान पर सो रहा हो उसे कोई आकर जगाये—सम्बोधित करे कि "यह तेरे सोनेका स्थान नहीं है; तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातुसे निर्मित है, अन्य कुधातुओंके मिश्रणसे रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है; इसलिये मैं तुझे जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो"; इसीप्रकार ये प्राणी अनादि संसारसे लेकर रागादिको भला जानकर, उन्हींको अपना स्वभाव मानकर, उसीमें निश्चिन्त होकर सो रहे हैं—स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं—जगाते हैं—सावधान करते हैं कि "हे अन्ध प्राणियों! तुम जिस पदमें सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्यमें अन्य द्रव्योंकी मिलावटसे रहित तथा अन्तरंगमें विकार रहित शुद्ध और स्थाई है; उस पदको प्राप्त हो—शुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो"।१३८।

यहाँ कहा गया है कि – "तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है..." अर्थात् उस भाव की अनुभूति करो। उसी में स्थिरता करो। निश्चयाभासी प्रचारकों को यह समझना चाहिये कि केवल मान लेने को नहीं कहा है। उससे तो वह जीव निश्चयाभासी ही होगा।

गाथार्थ :—[आत्मनि] आत्मामें [अपदानि] अपदभूत [द्रव्यभावान्] द्रव्यभावोंको [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतम्] निश्चित, [स्थिरम्] स्थिर, [एकम्] एक [इमं] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [भावम्] भावको—[स्वभावेन उपलभ्यमानं] जो कि (आत्माके) स्वभावरूपसे अनुभव किया जाता है उसे—[तथा] (हे भव्य!) जैसा है वैसा [गृहाण] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।) (203)

यहाँ मुमुक्षुओं को आत्मस्वभाव का अनुभव करने के लिये प्रेरित किया है और बताया है कि दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है। यहाँ स्पष्ट होता है कि जो भी व्यवहाराभासी जीव चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मानुभूति नहीं मानते उन्हे स्वयं को छलना बन्द करना चाहिये। उसका फल तो अनन्त संसार ही है।

श्लोकार्थ :—[तत् एकम् एव हि पदम् स्वाद्यं] वह एक ही पद आस्वादनके योग्य है [विपदाम् अपदं] जो कि विपत्तियोंका अपद है (अर्थात् जिसके आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और [यत्पुरः] जिसके आगे [अन्यानि पदानि] अन्य (सर्व) पद [अपदानि एव भासन्ते] अपद ही भासित होते हैं। (139)

भावार्थ :—एक ज्ञान ही आत्माका पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं—आपत्तिरूप हैं)।१३९।

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञानका अनुभव करता है तब इसप्रकार करता है :—

श्लोकार्थ :—[एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्] एक ज्ञायकभावसे भरे हुए महास्वादको लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञानमें ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता, इसलिये) [द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः] द्वन्दमय स्वादके लेनेमें असमर्थ (अर्थात् वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञानके भेदोंका स्वाद लेनेमें असमर्थ), [आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्] आत्मानुभवके-आत्मस्वादके—प्रभावसे आधीन होनेसे निज वस्तुवृत्तिको (आत्माकी शुद्ध परिणतिको) जानता-आस्वाद लेता हुआ (अर्थात् आत्माके अद्वितीय स्वादके अनुभवनमेंसे बाहर न आता हुआ) [एषः आत्मा] यह आत्मा [विशेष-उदयं भ्रश्यत्] ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ, [सामान्यं कलयन् किल] सामान्यमात्र ज्ञानका अभ्यास करता हुआ, [सकलं ज्ञानं] सकल ज्ञानको [एकताम् नयति] एकत्वमें लाता है—एकरूपमें प्राप्त करता है। (140)

भावार्थ :—इस एक स्वरूपज्ञानके रसीले स्वादके आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञानका अनुभव करने पर सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्तसे होते हैं। जब ज्ञान सामान्यका स्वाद लिया जाता है तब ज्ञानके समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थको पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसे आवे? इस प्रश्नका उत्तर पहले शुद्धनयका कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्माका शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है, इसलिये शुद्धनयके द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आता है।१४०।

गाथार्थ :—[आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—[तत्] तो [एकम् एव] एक ही [पदम् भवति] पद है (क्योंकि ज्ञानके समस्त भेद ज्ञान ही है); [सः एषः परमार्थः] वह यह परमार्थ है (–शुद्धनयका विषयभूत ज्ञानसामान्य ही यह परमार्थ है–) [यं लब्ध्वा] जिसे प्राप्त करके [निर्वृतिं याति] आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है। (204)

टीका :—आत्मा वास्तवमें परमार्थ (परम पदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। यह जो ज्ञान नामक एक पद है सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष-उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते, किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते हैं (–समर्थन

करते हैं)। इसी बातको दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं :—जैसे इस जगतमें बादलोंके पटलसे ढका हुआ सूर्य जो कि बादलोंके विघटन (बिखरने)के अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके (सूर्यके) प्रकाशनकी (प्रकाश करनेकी) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभावको नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्मपटलके उदयसे ढका हुआ आत्मा जो कि कर्मके विघटन-(क्षयोपशम)के अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके ज्ञानकी हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) उसका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानका ही अवलम्बन करना चाहिए। उसके आलम्बनसे ही (निज) पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्तिका नाश होता है, आत्माका लाभ होता है, अनात्माका परिहार होता सिद्ध है, (ऐसा होनेसे) कर्म बलवान नहीं हो सकता, रागद्वेषमोह उत्पन्न नहीं होते, (रागद्वेषमोहके बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रवके बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। (ज्ञानके आलम्बनका ऐसा माहात्म्य है।) (204)

भावार्थ :—कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञानसामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये भेदोंको गौण करके, एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना; इसीसे सर्वसिद्धि होती है॥२०४॥

यहाँ कहा गया है कि "एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना; इसीसे सर्वसिद्धि होती है।" यह ज्ञान की महिमा को दर्शाता है। यही विधि उत्तम है। बल्कि कई साधक हमसे शिकायत करते हैं कि "ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा का ध्यान करने के बावजूद हमारा काम नहीं बनता। हमें ज्ञान नहीं मिलता। हमें शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं होती। तो क्या करें?" हम उन्हें उत्तर देते हैं कि यह विधि उत्तम एवं सटीक है। बल्कि यह तभी काम करती है जब आपके भीतर वैराग्यादि आत्मा की योग्यताएँ हों। अतः यह ध्यान, जो केवल कुछ सेकंड में परिणाम देने में सक्षम है, उन मुमुक्षुओं के लिये कार्यकारी नहीं होगा जिनके पास वैराग्यादि आत्मा की योग्यताएँ नहीं हैं। निश्चयाभास ही होगा।

भावार्थ :—जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जलसे ही भरा हुआ है और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं जो कि एक जलरूप ही हैं, इसी प्रकार अनेक गुणोंका भण्डार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजलसे ही भरा हुआ है और कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद (व्यक्तियें) अपने आप प्रगट होते हैं उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खण्डखण्डरूपसे अनुभव नहीं करना चाहिये।१४१।

श्लोकार्थ :—[**दुष्करतरैः**] कोई जीव तो अति दुष्कर और [**मोक्ष-उन्मुखैः**] मोक्षसे पराङ्मुख [**कर्मभिः**] कर्मोंके द्वारा [**स्वयमेव**] स्वयमेव (जिनाज्ञाके बिना) [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश पाते हैं तो पाओ [**च**] और [**परे**] अन्य कोई जीव [**महाव्रत-तपः-भारेण**] (मोक्षके सन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे [**चिरम्**] बहुत समय तक [**भग्नाः**] भग्न होते हुए [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) [**साक्षात् मोक्षः**] जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, [**निरामयपदं**] निरामय (रोगादि समस्त क्लेशोंसे रहित)

पद है और [स्वयं संवेद्यमानं] स्वयं संवेद्यमान है ऐसे [इदं ज्ञानं] इस ज्ञानको [ज्ञानगुणं विना] ज्ञानगुणके बिना [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे [प्राप्तुं न हि क्षमन्ते] वे प्राप्त नहीं कर सकते। (142)

भावार्थ :—ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकांडसे उसकी प्राप्ति नहीं होती।१४२।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं :—

गाथार्थ :—[ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञानगुणसे रहित [बहवः अपि] बहुतसे लोग (अनेक प्रकारके कर्म करने पर भी) [एतत् पदं तु] इस ज्ञानस्वरूप पदको [न लभन्ते] प्राप्त नहीं करते; [तद्] इसलिये हे भव्य! [यदि] यदि तू [कर्मपरिमोक्षम्] कर्मसे सर्वथा मुक्ति [इच्छसि] चाहता हो तो [नियतम् एतत्] नियत ऐसे इसको (ज्ञानको) [गृहाण] ग्रहण कर। (205)

यहाँ भी कहा है कि ज्ञानसामान्य की ही उपासना करनी चाहिये। उसकी प्राप्ति की विधि वैराग्यादि आत्मा की योग्यताएँ प्राप्त करना है जैसे कि पहले कहा गया है। केवल यह मान लेने से कि "मैं मात्र ज्ञानसामान्य हूँ इत्यादि" से काम नहीं चलेगा। निश्चयाभास अवश्य हो सकता है।

गाथार्थ :—(हे भव्य प्राणी!) तू [एतस्मिन्] इसमें (–ज्ञानमें) [नित्यं] नित्य [रतः] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [एतस्मिन्] इसमें [नित्यं] नित्य [सन्तुष्टः भव] संतुष्ट हो और [एतेन] इससे [तृप्तः भव] तृप्त हो; (ऐसा करनेसे) [तव] तुझे [उत्तमं सौख्यम्] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा। (206)

"ज्ञानमें नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इससे तृप्त हो" यह उत्तम सुख अर्थात् स्वात्मानुभूति के लिये शर्तें कहीं। इसलिये यह समझने की बात है कि जो जीव बाहरी दुनिया में रत हैं, जो जीवों को बाहरी दुनिया से प्रीति हैं, जो जीव बाहरी दुनिया में संतुष्टि तलाश रहे हैं, जो जीव बाहरी दुनिया से तृप्त होने की कोशिश कर रहे हैं; वे नियम से परसन्मुख आत्मा हैं। इसलिये उन्हें सबसे पहले स्वसन्मुखता यानी आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करना होगा। तब तक, उन्हें ज्ञानसामान्य का ध्यान कार्यकारी नहीं होगा, यह ज़रूरी है कि हर कोई इसे समझें।

गाथार्थ :—[आत्मानम् तु] अपने आत्माको ही [नियतं] नियमसे [आत्मनः परिग्रहं] अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ [कः नाम बुधः] कौनसा ज्ञानी [भणेत्] यह कहेगा कि [इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [मम द्रव्यम्] मेरा द्रव्य [भवति] है? (207)

यहाँ ज्ञानी की स्थिति बताई गयी है। यह समझा जाना चाहिये कि जिन जीवों को पर के प्रति मूर्छा है उनके लिये आत्मज्ञान प्राप्त करना संभव ही नहीं होगा।

गाथार्थ :—[छिद्यतां वा] छिद जाये, [भिद्यतां वा] अथवा भिद जाये, [नीयतां वा] अथवा कोई ले जाये, [अथवा विप्रलयम् यातु] अथवा नष्ट हो जाये, [यस्मात् तस्मात् गच्छतु] अथवा चाहे जिस प्रकारसे चला जाये, [तथापि] फिर भी [खलु] वास्तवमें [परिग्रहः] परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है। (209)

भावार्थ :—ज्ञानीको परद्रव्यके बिगड़ने-सुधरनेका हर्ष-विषाद नहीं होता॥२०९॥

श्लोकार्थ :—[**पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकाद्**] पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण [**ज्ञानिनः यदि उपभोगः भवति तत् भवतु**] ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, [**अथ च**] परंतु [**रागवियोगात्**] रागके वियोग (-अभाव)के कारण [**नूनम्**] वास्तवमें [**परिग्रहभावम् न एति**] वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता। (146)

भावार्थ :—पूर्वबद्ध कर्मका उदय आने पर जो उपभोगसामग्री प्राप्त होती है उसे यदि अज्ञानमय रागभावसे भोगा जाये तो वह उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त हो। परन्तु ज्ञानीके अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। वह जानता है कि जो पहले बाँधा था वह उदयमें आ गया और छूट गया; अब मैं उसे भविष्यमें नहीं चाहता। इसप्रकार ज्ञानीके रागरूप इच्छा नहीं है, इसलिये उसका उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता।१४६।

यह बातें ज्ञानी की अपेक्षा से कही गयी हैं। अज्ञानियों को वैसे भ्रम में नहीं रहना हैं। ऐसा मान लेने से तो वे निश्चयाभासी ही होंगे।

गाथार्थ :—[**बन्धोपभोगनिमित्तेषु**] बंध और उपभोगके निमित्तभूत [**संसारदेहविषयेषु**] संसारसम्बन्धी और देहसम्बन्धी [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसानके उदयोंमें [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**रागः**] राग [**न एव उत्पद्यते**] उत्पन्न ही नहीं होता। (217)

उपरोक्त कथन की ही पुष्टि यहाँ की गयी है। इसलिये निश्चयाभासी प्रचारकों का अज्ञानियों को यह उपदेश कि ऐसा मान लेने से काम हो जायेगा अनुचित है।

श्लोकार्थ :—[**इह अकषायितवस्त्रे**] जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिसे जो कसायला नहीं किया गया हो ऐसे वस्त्रमें [**रंगयुक्तिः**] रंगका संयोग, [**अस्वीकृता**] वस्त्रके द्वारा अंगीकार न किया जानेसे, [**बहिः एव हि लुठति**] ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)—वस्त्रके भीतर प्रवेश नहीं करता, [**ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति**] इसीप्रकार ज्ञानी रागरूप रससे रहित है, इसलिये कर्मोदयका भोग उसे परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता। (148)

भावार्थ :—जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिके लगाये बिना वस्त्रमें रंग नहीं चढ़ता उसीप्रकार रागभावके बिना ज्ञानीके कर्मोदयका भोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता।१४८।

उपरोक्त कथन की ही पुष्टि यहाँ की गयी है। इसलिये निश्चयाभासी प्रचारकों का अज्ञानियों को यह उपदेश कि ऐसा मान लेने से काम हो जायेगा अनुचित है।

गाथार्थ :—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [**रागप्रहायकः**] रागको छोड़नेवाला है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मके मध्यमें रहा हुआ हो [**तु**] तो भी [**रजसा**] कर्मरूप रजसे [**नो लिप्यते**] लिप्त नहीं होता—[**यथा**] जैसे [**कनकम्**] सोना [**कर्दममध्ये**] कीचड़के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। [**पुनः**] और [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [**रक्तः**] रागी है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मके मध्य रहा

हुआ [कर्मरजसा] कर्मरजसे [लिप्यते तु] लिप्त होता है—[यथा] जैसे [लोहम्] लोहा [कर्दममध्ये] कीचड़के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।(218-219)

भावार्थ :—जैसे कीचड़में पड़े हुए सोनेको जंग नहीं लगती और लोहेको लग जाती है, उसीप्रकार कर्मके मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मसे नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान-अज्ञानकी महिमा है॥२१८-२१९॥

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। इसलिये निश्चयाभासी प्रचारकों का अज्ञानियों को यह उपदेश कि ऐसा मान लेने से काम हो जायेगा अनुचित है। स्वयं को इन बातों का अनुभव करके प्रमाणित करने के लिये प्रेरित होना चाहिये तभी दूसरों को भी ऐसा करने के लिये प्रेरित करना सार्थक है। अन्यथा अनन्तकाल का दुःख प्रतिक्षा कर रहा है।

भावार्थ :—जैसे श्वेत शंख परके भक्षणसे काला नहीं होता, किन्तु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है तब काला हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञानी परके उपभोगसे अज्ञानी नहीं होता, किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है तब अज्ञानी होता है और तब बन्ध करता है॥२२० से २२३॥

अब, "जिसे फलकी वाँछा नहीं है वह कर्म क्यों करे?" इस आशंकाको दूर करनेके लिए काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**येन फलं त्यक्तं सः कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः**] जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। [**किन्तु**] किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—[**अस्य अपि कुतः अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन आपतेत्**] उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे (–उसके वश बिना) आ पड़ता है। [**तस्मिन् आपतिते तु**] उसके आ पड़ने पर भी, [**अकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितः ज्ञानी**] जो अकंप परमज्ञानस्वभावमें स्थित है ऐसा ज्ञानी [**कर्म**] कर्म [**किं कुरुते अथ किं न कुरुते**] करता है या नहीं [**इति कः जानाति**] यह कौन जानता है? (153)

भावार्थ :—ज्ञानीके परवशतासे कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञानसे अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है? ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीकी नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमेंसे, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहारविहार करनेवाले मुनियोंके बाह्यक्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभावसे अचलित होनेके कारण निश्चयसे वे, बाह्यक्रियाकर्मके कर्ता नहीं हैं, ज्ञानके ही कर्ता हैं। अन्तरङ्ग मिथ्यात्वके अभावसे तथा यथासम्भव कषायके अभावसे उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलताको ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलताको नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा हैं, वे बाहरसे ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्माकी गतिको बहिरात्मा क्या जाने? ।१५३।

गाथार्थ :—[**सम्यग्दृष्टयः जीवाः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**निश्शंकाः भवन्ति**] निःशंक होते हैं, [**तेन**] इसलिये [**निर्भयाः**] निर्भय होते हैं; [**तु**] और [**यस्मात्**] क्योंकि [**सप्तभयविप्रमुक्ताः**] वे सप्त भयोंसे रहित होते हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**निःशंकाः**] निःशंक होते हैं (–अडोल होते हैं)। (228)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है।

इसप्रकार ज्ञानीको सात भय नहीं होते।

प्रश्न :—अविरतसम्यग्दृष्टि आदिको भी ज्ञानी कहा है और उनके भयप्रकृतिका उदय होता है तथा उसके निमित्तसे उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है?

समाधान :—भयप्रकृतिके उदयके निमित्तसे ज्ञानीको भय उत्पन्न होता है। और अन्तरायके प्रबल उदयसे निर्बल होनेके कारण उस भयकी वेदनाको सहन न कर सकनेसे ज्ञानी उस भयका इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूपके ज्ञानश्रद्धानसे च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्मकी भय नामक प्रकृतिका दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिये ज्ञानीके भय नहीं है।१६०।

चूँकि ज्ञानी का अहम् (मैंपन) ज्ञानसामान्य भाव में होने के कारण ज्ञानी के अभिप्राय में कोई डर नहीं होता। क्योंकि यह ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता भाव है। इसमें कोई विशेषभाव होते ही नहीं। बिना आत्मानुभूति के ज्ञानसामान्य भाव को मात्र शब्दों में ग्रहण करनेवाले को यह नहीं होता।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि पहले बन्धी हुई भय आदि प्रकृतियोंके उदयको भोगता है तथापि [१]निःशंकित आदि गुणोंके विद्यमान होनेसे [२]शंकादिकृत (शंकादिके निमित्तसे होनेवाला) बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकर्मकी निर्जरा ही होती है।१६१।

गाथार्थ :—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**सर्वभावेषु**] समस्त भावोंमें [**असम्मूढः**] अमूढ़ है—[**सद्दृष्टिः**] यथार्थ दृष्टिवाला [**भवति**] है, [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चयसे [**अमूढदृष्टिः**] अमूढ़दृष्टि [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये। (232)

टीका :—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी भावोंमें मोहका (उसे) अभाव होनेसे अमूढ़दृष्टि है, इसलिये उसे मूढदृष्टिकृत बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है। (232)

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जानता है; उसे रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे किसी भी पदार्थ पर उसकी अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोहके उदयसे इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों तथापि उसे उदयकी बलवत्ता जानकर वह उन भावोंका स्वयं कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है॥२३२॥

अब उपगूहन गुणकी गाथा कहते हैं :—

गाथार्थ :—[यः] जो (चेतयिता) [**सिद्धभक्तियुक्तः**] सिद्धकी (शुद्धात्माकी) भक्तिसे युक्त है [**तु**] और [**सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः**] पर वस्तुके सर्व धर्मोंको गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावोंमें युक्त नहीं होता) [**सः**] उसको [**उपगूहनकारी**] उपगूहन करनेवाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये। (233)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है।

गाथार्थ :—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**विद्यारथम् आरूढः**] विद्यारूप रथ पर आरूढ़ हुआ (–चढ़ा हुआ) [**मनोरथपथेषु**] मनरूप रथके पथमें (ज्ञानरूप रथके चलनेके मार्गमें) [**भ्रमति**] भ्रमण करता है, [**सः**] वह [**जिनज्ञानप्रभावी**] जिनेन्द्रभगवानके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये। (236)

इस गाथामें निश्चयप्रभावनाका स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्बको रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादिमें फिराकर व्यवहारप्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूप (ज्ञानरूप) रथमें आत्माको विराजमान करके मनरूप (ज्ञानरूप) मार्गमें भ्रमण करता है वह ज्ञानकी प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है।

इसप्रकार ऊपरकी गाथाओंमें यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको निःशंकित आदि आठ गुण निर्जराके कारण हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्वके अन्य गुण भी निर्जराके कारण जानना चाहिए।

इस ग्रन्थमें निश्चयनयप्रधान कथन होनेसे यहाँ निःशंकितादि गुणोंका निश्चय स्वरूप (स्व-आश्रित स्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इसप्रकार है :—जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धानमें निःशंक हो, भयके निमित्तसे स्वरूपसे चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है।१। जो कर्मफलकी वाँछा न करे तथा अन्य वस्तुके धर्मोंकी वाँछा न करे, उसे निःकांक्षित गुण होता है।२। जो वस्तुके धर्मोंके प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।३। जो स्वरूपमें मूढ़ न हो, स्वरूपको यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होता है।४। जो आत्माको शुद्धस्वरूपमें युक्त करे, आत्माकी शक्ति बढ़ाये, और अन्य धर्मोंको गौण करे, उसके उपबृंहण अथवा उपगूहन गुण होता है।५। जो स्वरूपसे च्युत होते हुए आत्माको स्वरूपमें स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।६। जो अपने स्वरूपके प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।७। जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकाशित करे—प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है।८। ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषोंके द्वारा जो कर्मबन्ध होता था उसे नहीं होने देते। और इन गुणोंके सद्भावमें, चारित्रमोहके उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (–शंकादिकी) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानतासे मिथ्यात्वके अस्तित्वमें ही कहा है।

सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयनिमित्तसे सम्यग्दृष्टिके जो बन्ध कहा है वह भी निर्जरारूप ही (–निर्जराके समान ही) समझना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जैसे पूर्वमें मिथ्यात्वके उदयके समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है उसीप्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म

भी खिर जाता है; उसके उस कर्मके स्वामित्वका अभाव होनेसे वह आगामी बन्धरूप नहीं, किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे—कोई पुरुष दूसरेका द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमानमें उस द्रव्यसे कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिकको दे देता है; नियत समयके आने तक वह द्रव्य उसके घरमें पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होनेसे उस पुरुषको उस द्रव्यका बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामीको दे देनेके बराबर ही है; इसीप्रकार—ज्ञानी कर्मद्रव्यको पराया मानता है, इसलिये उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुएके समान ही है ऐसा जानना चाहिए। (236-भावार्थ)

प्रश्न :—आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता। किन्तु सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके बन्ध कहा गया है। और घातिकर्मोंका कार्य आत्माके गुणोंका घात करना है, इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य—इन गुणोंका घात भी विद्यमान है। चारित्रमोहका उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोहके उदयमें भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीका उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता?

उत्तर :—बन्धके होनेंमें मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीका उदय ही है; और सम्यग्दृष्टिके तो उनके उदयका अभाव है। चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि सुखगुणका घात होता है तथा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीके अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष घातिकर्मोंकी प्रकृतियोंका अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मोंकी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनन्त संसारका कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ अन्य बन्धकी गणना कौन करता है? वृक्षकी जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहनेकी अवधि कितनी होती है? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्रमें सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होनेके सम्बन्धमें ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होनेके बाद जो कुछ कर्म रहे हों वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानीके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए। कोई पुरुष दरिद्रताके कारण एक झोपड़ेमें रहता था। भाग्योदयसे उसे धन-धान्यसे परिपूर्ण बड़े महलकी प्राप्ति हो गई, इसलिये वह उसमें रहनेको गया। यद्यपि उस महलमें बहुत दिनोंका कूड़ा-कचरा भरा हुआ था तथापि जिस दिन उसने आकर महलमें प्रवेश किया उस दिनसे ही वह उस महलका स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा-कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्तिके अनुसार साफ करता है। जब सारा कचरा साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा तब वह परमानन्दको भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानीके सम्बन्धमें समझना चाहिए।१६२।

— ७ —
बन्ध अधिकार

श्लोकार्थ :—[राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा] जो (बन्ध) रागके उदयरूप महारस(मदिरा)के द्वारा समस्त जगतको प्रमत्त (–मतवाला) करके, [रस-भाव-निर्भर-महानाट्येन क्रीडन्तं बन्धं] रसके भावसे (रागरूप मतवालेपनसे) भरे हुए महा नृत्यके द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बन्धको [धुनत्] उड़ाता—दूर करता हुआ, [ज्ञानं] ज्ञान [समुन्मज्जति] उदयको प्राप्त होता है। वह ज्ञान [आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि] आनंदरूप अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है, [सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्] अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्थाको प्रगट नचा रहा है, [धीर-उदारम्] धीर है, उदार (अर्थात् महान विस्तारवाला, निश्चल) है, [अनाकुलं] अनाकुल है (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलताका कारण नहीं है), [निरूपधि] उपाधि रहित (अर्थात् परिग्रह रहित या जिसमें किञ्चित् भी परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है। (163)

भावार्थ :—बन्धतत्त्वने 'रंगभूमिमें' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा, उस ज्ञानकी महिमा इस काव्यमें प्रगट की गई है। ऐसे अनन्त ज्ञानस्वरूप जो आत्मा वह सदा प्रगट रहो।१६३।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। बल्कि ये वही बातें हैं जिन्हें निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी लोगों को मान लेने को और उनपर ध्यान करने को कहते हैं। इससे उनकी अज्ञानता ही उजागर होती है। निश्चयाभासी उपदेशक समयसार जैसे गहन शास्त्रो की बातों को समझे बिना ही उपदेश देते हैं। कई लोग कहते हैं कि जानकारी से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आसान हो जायेगी। अगर ऐसा है तब तो हमें नौ पूर्वों की जानकारी से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाना चाहिये था। क्योंकि हमने नौ पूर्वों की जानकारी तो कई बार अर्जित की है, ऐसा भगवानने बताया है। हमारी यह ग़लतफ़हमी हमें तुरंत ही दूर करनी चाहिये। क्योंकि इससे जानकारी तो बढ़ेगी परन्तु वैराग्यादि योग्यताओं के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो दुर्लभ ही रहेगी।

श्लोकार्थ :—[बन्धकृत्] कर्मबन्धको करनेवाला कारण, [न कर्मबहुलं जगत्] न तो बहुत कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ लोक है, [न चलनात्मकं कर्म वा] न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रियारूप योग) है, [न नैककरणानि] न अनेक प्रकारके करण हैं [वा न चिद्-अचिद्-वधः] और न चेतन-अचेतनका घात है। किन्तु [उपयोगभूः रागादिभिः यद्-ऐक्यम् समुपयाति] 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादिकके साथ जो ऐक्यको प्राप्त होता है [सः एव केवलं] वही एक (–मात्र रागादिकके साथ एकत्व प्राप्त करना वही–) [किल] वास्तवमें [नृणाम् बन्धहेतुः भवति] पुरुषोंके बन्धका कारण है। (164)

भावार्थ :—यहाँ निश्चयनयसे एकमात्र रागादिकको ही बन्धका कारण कहा है।१६४।

सम्यग्दृष्टि उपयोगमें रागादिक नहीं करता, उपयोगका और रागादिका भेद जानकर रागादिकका स्वामी नहीं होता, इसलिए उसे पूर्वोक्त चेष्टासे बन्ध नहीं होता—यह कहते हैं :—

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टिके पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी रागके सम्बन्धका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नहीं होता। इसके समर्थनमें पहले कहा जा चुका है।।२४२ से २४६।।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। बल्कि ये वही बातें हैं जिन्हें निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी लोगों को मान लेने को और

उनपर ध्यान करने को कहते हैं। इससे उनकी अज्ञानता ही उजागर होती है। निश्चयाभासी उपदेशक समयसार जैसे गहन शास्त्रो की बातों को समझे बिना ही उपदेश देते हैं।

भावार्थ :—यहाँ सम्यग्दृष्टिकी अद्‌भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि—लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्यका घात—वे बन्धके कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीवकी हिंसासे बन्धका होना नहीं कहा, इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किन्तु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवका घात भी हो जाये तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवोंको मारनेके भाव होंगे वहाँ तो अपने उपयोगमें रागादिका अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीवको जिलानेका अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्रायको भी निश्चयनयमें मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीवको मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसलिये कथनको नयविभागसे यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है।१६५।

श्लोकार्थ :—[तथापि] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणोंसे बन्ध नहीं कहा और रागादिकसे ही बन्ध कहा है तथापि) [ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते] ज्ञानियोंको निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, [सा निरर्गला व्यापृतिः किल तद्-आयतनम् एव] क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तवमें बन्धका ही स्थान है। [ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म तत् अकारणम् मतम्] ज्ञानियोंके वाँछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्धका कारण नहीं कहा, क्योंकि [जानाति च करोति] जानता भी है और (कर्मको) करता भी है—[द्वयं किमु न हि विरुध्यते] यह दोनों क्रियाएँ क्या विरोधरूप नहीं हैं? (करना और जानना निश्चयसे विरोधरूप ही है।) (166)

भावार्थ :—पहले काव्यमें लोक आदिको बन्धका कारण नहीं कहा, इसलिए वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्तिका बन्धके कारणोंमें सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणामकी—बन्धके कारणकी—निमित्तभूत है, उस निमित्तका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियोंके अबुद्धिपूर्वक—वाँछा रहित—प्रवृत्ति होती है, इसलिये बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तनेको नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादा रहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्धका ही कारण है। जाननेमें और करनेमें तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।१६६।

यदि ज्ञानी को भी स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तना उचित नहीं, तो फिर अज्ञानी की तो बात ही क्या? परन्तु इन बातों के मर्म को समझे बिना निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी कहते हैं कि "आप तो केवल अबन्धस्वरूप हैं। आपको अबन्धस्वरूप होने की आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार कई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को शुद्धनिश्चयनय को मान लेने का उपदेश देते हैं। जो उनकी अज्ञानता को दर्शाता है। उनमें से कई तो स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं। क्योंकि वह उपाधि उन्हें उनके निश्चयाभासी गुरु ने दी होती है। एक अपेक्षा से दोनों ही अन्धे है तो कौन किसको राह दिखायेंगे? इसी तरह हम अनादिकाल से स्वयं को और कई अनेक लोगों को धोखा देते आये हैं।

श्लोकार्थ :—[यः जानाति सः न करोति] जो जानता है सो करता नहीं [तु] और [यः करोति अयं खलु जानाति न] जो करता है सो जानता नहीं। [तत् किल कर्मरागः] करना तो वास्तवमें कर्मराग है [तु] और [रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः] रागको (मुनियोंने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; [सः नियतं मिथ्यादृशः] जो कि वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियमसे मिथ्यादृष्टिके होता है [च] और [सः बन्धहेतुः] वह बन्धका कारण है।१६७।

जो स्वयं को जानता है, अर्थात् जिसका अहम् (मैंपन) ज्ञानसामान्य भाव में है और चूँकि ज्ञानसामान्य भाव परम अकर्ता होता है इसलिये ज्ञानी अभिप्राय में परम अकर्ता होता है। अज्ञानी स्वयं को अनुभूतिपूर्वक नहीं जानता इसलिये कर्ता है। दूसरे, प्रत्येक जीव अपने उपादान से परिणमते हैं। उनके उपादान में दूसरों का रंचमात्र भी कर्तापन नहीं होता। कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं होता, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है।

गाथार्थ :—[यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ [परैः सत्त्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं', [सः] वह [मूढः] मूढ (–मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [ज्ञानी] ज्ञानी है। (247)

ज्ञानी अभिप्राय में परम अकर्ता होता है, इसलिये वह परम अकर्ता है। अज्ञानी स्वयं को नहीं जानता इसलिये कर्ता है।

भावार्थ :—जीवकी जो मान्यता हो तदनुसार जगतमें नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरेका तथा दूसरेसे अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनयकी प्रधानतासे है।

व्यवहार इसप्रकार है :—परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावसे पर्यायका जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्तसे मरण (–पर्यायका व्यय) हो उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि 'इसने इसे मारा', यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहारका सर्वथा निषेध है। जो निश्चयको नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटानेके लिए यहाँ कथन किया है। उसे जाननेके बाद दोनों नयोंको अविरोधरूपसे जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।।२४८ से २४९।।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी बनने के लिये निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि को समझना बहुत ज़रूरी है। जो हम बार-बार समझाते हैं।

भावार्थ :—जीवका जैसा आशय हो तदनुसार जगतमें कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिये, सभी जीव अपने अपने कर्मोदयसे सुखी-दुःखी होते हैं, वहाँ यह मानना कि 'मैं परको सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है', सो अज्ञान है। निमित्त-नैमित्तिकभावके आश्रयसे (किसीको किसीके) सुख-दुःखका करनेवाला कहना सो व्यवहार है; जो कि निश्चयकी दृष्टिमें गौण है।।२५४ से २५६।।

चूँकि निश्चयदृष्टि में त्रिकाली ध्रुव ही रहता है और चूँकि वह सामान्य है, इसलिये उसमें सुख-दुःख आदि विशेषभाव नहीं होते और ज्ञानी को वह त्रिकाली ध्रुव में ही अहम् (मैंपन) होने के कारण वे स्वयं को अभिप्राय में पर का परम अकर्ता जानते है।

भावार्थ :—कोई किसीके मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता तथा किसीके सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदिका अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है—यह निश्चयका वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है॥२५७ से २५८॥

भावार्थ :—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मोंके उदयकी विचित्रताके कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। इसलिये जो यह मानता है—अहंकार करता है कि—'मैं परजीवको मारता हूँ', उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है—अपने विशुद्ध चैतन्यप्राणका घात है, और वही बन्धका कारण है। यह निश्चयनयका मत है।

यहाँ व्यवहारनयको गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिए। इसलिये वह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिए; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है॥२६२॥

यहाँ कहा गया है कि किसी को भी इस "समयसार" शास्त्र से कुछ भी एकान्त ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्यथा अनन्त दुःख मिल सकते हैं।

भावार्थ :—बन्धका कारण निश्चयसे अध्यवसान ही है; और बाह्यवस्तुएँ हैं वे अध्यवसानका आलम्बन हैं—उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिये उन्हें अध्यवसानका कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तुके बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते, इसलिये बाह्यवस्तुओंका त्याग कराया जाता है। यदि बाह्यवस्तुओंको बन्धका कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता, उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारणको व्यभिचारी—अनैकान्तिक—कारणाभास कहते हैं।) कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्नसे गमन करते हों और उनके पैरके नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनिको हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यदृष्टिसे देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनिके हिंसाका अध्यवसाय नहीं होनेसे उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैरके नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनिके बन्धका कारण नहीं है, उसीप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इसप्रकार बाह्यवस्तुको बन्धका कारण माननेमें व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्यवस्तु बन्धका कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु बिना निराश्रयसे अध्यवसान नहीं होते, इसलिये बाह्यवस्तुका निषेध भी है ही॥२६५॥

भावार्थ :—जो अपनी अर्थक्रिया (–प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवोंको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होनेसे मिथ्या है—झूँठी है॥२६६॥

गाथार्थ :—[जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [तिर्यङ्नैरयिकान्] तिर्यंच, नारक, [देवमनुजान् च] देव और मनुष्य [सर्वान्] इन सर्व पर्यायों, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक प्रकारके [पुण्यं पापं] पुण्य और पाप—[सर्वान्] इन सबरूप [करोति] अपनेको करता है। [तथा च] और उसीप्रकार [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [धर्माधर्मं] धर्म-अधर्म, [जीवाजीवौ] जीव-अजीव [च] और [अलोकलोकं] लोक-अलोक—[सर्वान्] इन सबरूप [आत्मानम् करोति] अपनेको करता है। (268-269)

भावार्थ :—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है, इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। उस अध्यवसानसे ही आत्मा अपनेको अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है ।।२६८-२६९।।

चूँकि अज्ञानी को एक विशेष का ही अनुभव होता है, इसलिये वह स्वयं को पर्यायरूप में ही अनुभव करता है। इसलिये उसका नय का ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। क्योंकि जब तक ज्ञान स्वात्मानुभूतिपूर्वक प्रमाण नहीं होता तब तक नय (प्रमाण का अंश) भी सम्यक् नहीं होता, नयाभास ही होता है।

श्लोकार्थ :—[विश्वात् विभक्तः अपि हि] विश्वसे (समस्त द्रव्योंसे) भिन्न होने पर भी [आत्मा] आत्मा [यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति] जिसके प्रभावसे अपनेको विश्वरूप करता है [एषः अध्यवसायः] ऐसा यह अध्यवसाय—[मोह-एक-कन्दः] कि जिसका मोह ही एक मूल है वह—[येषां इह नास्ति] जिनके नहीं है [ते एव यतयः] वे ही मुनि हैं।१७२।

यहाँ कहा गया है कि जो ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है वही वास्तव में मुनि है। ऐसा ज्ञान (सम्यग्दर्शन) की महिमा दर्शाने के लिये ही कहा गया है। दूसरे, जो जीव अज्ञानी होते हुए भी मुनि दीक्षा प्राप्त कर चुका है, उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करने के लिये कहा है। अन्यथा दीक्षा कार्यकारी नहीं बनती।

गाथार्थ :—[बुद्धिः] बुद्धि, [व्यवसायः अपि च] व्यवसाय, [अध्यवसानं] अध्यवसान, [मतिः च] मति, [विज्ञानम्] विज्ञान, [चित्तं] चित्त, [भावः] भाव [च] और [परिणामः] परिणाम—[सर्वं] ये सब [एकार्थम् एव] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग अलग हैं, किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं)। (271)

भावार्थ :—यह तो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं, वे सभी चेतन आत्माके परिणाम हैं। जब तक स्व-परका भेदज्ञान न हो तब तक जीवके जो अपने और परके एकत्वके निश्चयरूप परिणति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामोंसे कहा जाता है ।।२७१।।

चूँकि अध्यवसान आदि विशेषभाव होने के कारण उसी अपेक्षा से वे सभी एकार्थ (एक समान) हैं। निश्चयनय का आश्रय यानी आत्मानुभूति, शब्दो के रूप में आश्रय कार्यकारी नहीं होता।

गाथार्थ :—[एवं] इसप्रकार [व्यवहारनयः] (पराश्रित) व्यवहारनय [निश्चयनयेन] निश्चयनयके द्वारा [प्रतिषिद्धः जानीहि] निषिद्ध जान; [पुनः निश्चयनयाश्रिताः] निश्चयनयके आश्रित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] निर्वाणको [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त होते हैं। (272)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी का अहम् (मैंपन) पराश्रित व्यवहार में नहीं होता है, बल्कि उसका अहम् (मैंपन) शुद्धनिश्चयनय के विषय शुद्धात्मा में ही होता है। और वह इसी में स्थिरता के लिये प्रयास करके निर्वाण प्राप्त करता है। यहाँ समझनेवाली बात यह है कि यदि निश्चयाभासी प्रचारक या उनसे प्रेरित अन्य कोई भी साधक स्वयं को शुद्धनिश्चयाश्रित माने यानी स्वयं को शुद्धात्मा मान लेते हैं तो यह गाथा उनके लिये कार्यकारी-उपयोगी नहीं है। क्योंकि वे केवल निश्चयाभास यानी निश्चय के भ्रम में ही हैं।

गाथार्थ :—[मोक्षम् अश्रद्दधानः] मोक्षकी श्रद्धा न करता हुआ [यः अभव्यसत्त्वः] जो अभव्य जीव है वह [तु अधीयीत] शास्त्र तो पढ़ता है, [तु] परन्तु [ज्ञानं अश्रद्दधानस्य] ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उसको [पाठः] शास्त्रपठन [गुणम् न करोति] गुण नहीं करता। (274)

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि—यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है, इसलिये इसमें अनुभवकी अपेक्षासे भव्य-अभव्यका निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगमके साथ मिलायें तो—अभव्यको व्यवहारनयके पक्षका सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थको अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहारका पक्ष रहनेसे उसके सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनयके पक्षका आशय अभव्यके सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है॥२७५॥

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ कहा गया है कि "समयसार" अनुभवप्रधान ग्रन्थ है, अतः इसमें जो अभव्य के लिये कहा गया है वह अज्ञानी की बात समझनी चाहिये। इसलिये यदि निश्चयाभासी प्रचारक या उनसे प्रेरित कोई अन्य साधक बिना अनुभव के भी स्वयं को शुद्धात्मा मानने की बात करते हैं, तो उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि अज्ञानी का ज्ञान प्रमाण न होने से उसका नय का ज्ञान भी नयाभासरुपी अज्ञान होता है, इससे वो निश्चयाभासी बनता है जिसका फल अनन्त संसार है।

गाथार्थ :—[आचारादि] आचारांँगादि शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयम् च] दर्शन जानना चाहिए [च] तथा [षड्जीवनिकायं] छ जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है—[तथा तु] ऐसा तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है। (276)

[खलु] निश्चयसे [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चरित्रं च] दर्शन और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (—समाधि, ध्यान) है। (277)

यह कथन स्वानुभव को कहता है। इसलिये किसी भी अज्ञानी को ये शब्द बोलने का अधिकार ही नहीं है।

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्तसे ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुतके) सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण ज्ञानका अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शनके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण दर्शनका अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्रके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके

सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण चारित्रका अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुतके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही ज्ञानका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थोंके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही दर्शनका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकायके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही चारित्रका सद्भाव है। (276-277 टीका)

भावार्थ :—आचारांगादि शब्दश्रुतका ज्ञान, जीवादि नव पदार्थोंका श्रद्धान तथा छहकायके जीवोंकी रक्षा—इन सबके होते हुए भी अभव्यके ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होते ही हैं, इसलिये निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है॥२७६-२७७॥

गाथार्थ :—[**यथा**] जैसे [**स्फटिकमणिः**] स्फटिकमणि [**शुद्धः**] शुद्ध होनेसे [**रागाद्यैः**] रागादिरूपसे (ललाई-आदिरूपसे) [**स्वयं**] अपने आप [**न परिणमते**] परिणमता नहीं है, [**तु**] परंतु [**अन्यैः रक्तादिभिः द्रव्यैः**] अन्य रक्तादि द्रव्योंसे [**सः**] वह [**रज्यते**] रक्त (–लाल) आदि किया जाता है, [**एवं**] इसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**शुद्धः**] शुद्ध होनेसे [**रागाद्यैः**] रागादिरूप [**स्वयं**] अपने आप [**न परिणमते**] परिणमता नहीं है, [**तु**] परंतु [**अन्यैः रागादिभिः दोषैः**] अन्य रागादि दोषोंसे [**सः**] वह [**रज्यते**] रागी आदि किया जाता है। (278-279)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यही बात यहाँ कही गयी हैं कि ज्ञानी का अहम् (मैंपन) शुद्धनिश्चयनय का विषय शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये वह स्वयमेव रागादिरूप नहीं परिणमता। यदि निश्चयाभासी प्रचारक या उनसे प्रेरित कोई अन्य साधक बिना अनुभव के भी स्वयं को शुद्धात्मा मानने की बात करते हैं, तो उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि इसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी लोग तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ :—स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता, किन्तु लाल आदि परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं ललाई-आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्यके निमित्तसे) ललाई-आदिरूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु रागादिरूप परद्रव्यके निमित्तसे (–अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्यके निमित्तसे) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तुका ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्कको अवकाश नहीं है॥२७८-२७९॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[यथा अर्ककान्तः] सूर्यकान्तमणिकी भाँति (-जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतः ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमनमें सूर्यबिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) [आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति] आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, [तस्मिन् निमित्तं परसंगः एव] उसमें निमित्त परसंग ही (–परद्रव्यका संग ही) है —[अयम् वस्तुस्वभावः उदेति तावत्] ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदैव वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसीने बनाया नहीं है।)।१७५।

'ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता' इस अर्थका, तथा आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं :—

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है।

श्लोकार्थ :—[इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है, [तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्] इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता, [अतः कारकः न भवति] अतः वह (रागादिका) कर्ता नहीं है।१७६।

अब, इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं :—

गाथार्थ :—[ज्ञानी] ज्ञानी [रागद्वेषमोहं] राग-द्वेष-मोहको [वा कषायभावं] अथवा कषायभावको [स्वयम्] अपने आप [आत्मनः] अपनेमें [न च करोति] नहीं करता, [तेन] इसलिये [सः] वह, [तेषां भावानाम्] उन भावोंका [कारकः न] कारक अर्थात् कर्ता नहीं है।(280)

यहाँ ज्ञानी को अकर्ता कहा गया है। बल्कि यदि यही निश्चयाभासी उपदेशक या उनसे प्रेरित अन्य साधक अपनी आत्मा की अनुभूति के बिना भी स्वयं को अकर्ता मानने की बात कर रहे हैं, तो उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि अज्ञानी का ज्ञान प्रमाण न होने से उसका नय का ज्ञान भी नयाभासरूपी अज्ञान होता है, इससे वो निश्चयाभासी बनता है जिसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ :—आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता है'; इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावोंका कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है।।२८०।।

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता, इसलिये वह रागादि भावोंका कर्ता होता है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति] अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता, [तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्] इसलिये वह रागादिको (–रागादिभावोंको) अपना करता है, [अतः कारकः भवति] अतः वह उनका कर्ता होता है।१७७।

गाथार्थ :—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मों होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं, [तैः तु] उन रूप [परिणममानः] परिणमित होता हुआ अज्ञानी [रागादीन्] रागादिको [पुनः अपि] पुनः पुनः [बध्नाति] बाँधता है।(281)

टीका :—यथोक्त वस्तुस्वभावको न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसारसे लेकर (अपने) शुद्धस्वभावसे च्युत ही है, इसलिये कर्मोदयसे उत्पन्न रागद्वेषमोहादि भावोंरूप परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादि भावोंका कर्ता होता हुआ (कर्मोंसे) बद्ध होता ही है—ऐसा नियम है। (281)

यहाँ अज्ञानी को नियम से कर्ता कहा गया है। बल्कि यदि निश्चयाभासी उपदेशक या उनसे प्रेरित अन्य साधक अपनी आत्मा की अनुभूति के बिना भी स्वयं को अकर्ता मानने की बात कर रहे हैं, तो उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि इसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ :—अज्ञानीके कर्मके निमित्तसे रागद्वेषमोहादि परिणाम होते हैं वे ही पुनः आगामी कर्मबन्धके कारण होते हैं॥२८२॥

इसप्रकार आत्मा रागादिभावोंको स्वयमेव न करनेसे रागादिभावोंका अकर्ता ही है ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता ही है तथापि जब तक उसके निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान हैं तब तक उसके रागादिभावोंके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान हैं, और जब तक रागादिभावोंके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान हैं तब तक वह रागादिभावोंका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्यके प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक रागादिभावोंके भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाते हैं, और जब रागादिभावोंके प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाते हैं तब वह साक्षात् अकर्ता ही है॥२८३ से २८५॥

भावार्थ :—यहाँ अधःकर्म और उद्देशिक आहारके दृष्टान्तसे द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है।

जिस पापकर्मसे आहार निष्पन्न हो उस पापकर्मको अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहारको भी अधःकर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवालेके निमित्तसे ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं। ऐसे (अधःकर्म और उद्देशिक) आहारका जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहारका प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान किया है। इसप्रकार समस्त द्रव्यको और भावको निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिये। जो परद्रव्यको ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिये कर्मका बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करनेका राग नहीं होता, इसलिये रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता। (इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नहीं है।)॥२८६-२८७॥

यहाँ ज्ञानी को अकर्ता कहा गया है। अज्ञानी को कर्ता कहा है। अतः उपरोक्त भाव की ही अभिव्यक्ति है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ :—जब परद्रव्यकी और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त परद्रव्यको भिन्न करनेमें-त्यागनेमें आते हैं, तब समस्त रागादिभावोंकी सन्तति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्मबन्धनको काटकर अपनेमें ही प्रकाशित होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें।१७८।

यहाँ परद्रव्य को त्याग करने को कहा गया है, उसे अभिप्राय से समझना। ज्ञानी को अभिप्राय में सभी परद्रव्यों का और परद्रव्यों के कारण होनेवाले अपने भावों का भी त्याग ही होता है। इसलिये वह अपनी आत्मा का अनुभव करके कर्म के बंधनों को काट लेता है। यदि निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी यही मान लेने का उपदेश दे रहे हैं, तो उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द करना होगा। क्योंकि इसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी लोग तो दुर्लभ ही हैं।

– ८ –
मोक्ष अधिकार

श्लोकार्थ :—[**इदानीम्**] अब (बन्ध पदार्थके पश्चात्), [**प्रज्ञा-क्रकच-दलनात् बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य**] प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बन्ध और पुरुषको द्विधा (भिन्न भिन्न—दो) करके, [**पुरुषम् उपलम्भ-एक-नियतम्**] पुरुषको—कि जो पुरुष मात्र [1]अनुभूति द्वारा ही निश्चित है उसे—[**साक्षात् मोक्षं नयत्**] साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, [**पूर्णं ज्ञानं विजयते**] पूर्ण ज्ञान जयवंत प्रवर्तता है। वह ज्ञान [**उन्मज्जत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं**] प्रगट होनेवाले सहज परमानंदके द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, [**परं**] उत्कृष्ट है, और [**कृत-सकल-कृत्यं**] जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (–जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है। (180)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी बार-बार स्वात्मानुभूति करते है इससे अंततः उनको मोक्ष की प्राप्ति होती हैं। परन्तु उसे केवल शब्दों में ग्रहण करने से मोक्ष नहीं निश्चयाभास ही होगा।

अब, मोक्षकी प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बन्धका छेद नहीं करता, किन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही सन्तुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता :—

भावार्थ :—कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्धके स्वरूपको जान लेनेसे ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यताका इस कथनसे निराकरण कर दिया गया है। जाननेमात्रसे ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटनेसे ही कटता है।।२८८ से २९०।।

अब यह कहते हैं कि बन्धके विचार करते रहनेसे भी बन्ध नहीं कटता :—

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [बन्धनबद्धः] बन्धनोंसे बँधा हुआ पुरुष [बन्धान् चिन्तयन्] बन्धोंके विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्धसे नहीं छूटता), [तथा] इसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बन्धान् चिन्तयन्] बन्धोंके विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त नहीं करता। (291)

यहाँ कहा गया है कि यदि केवल जानकारी के रूप में ज्ञान अर्जित किया, या उसका चिन्तन मनन भी कर लिया या उसका ध्यान भी कर लिया तो भी बन्ध कटता नहीं। बन्ध तो स्वात्मानुभूति से ही कटता है। यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी अबन्धस्वरूप होने का या मान लेने का उपदेश दे रहे हैं या ऐसा मान लेने की बात कर रहे हैं कि "स्वरूप के ज्ञान को घोंटने से ही सम्यग्दर्शन होगा" तो उन्हें स्वयं को तथा दूसरों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि स्वात्मानुभूति के बिना अबन्धस्वरूप का अनुभव ही नहीं होता। बल्कि ऐसे उपदेश के कारण अज्ञानी नयाभास से स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही अबन्धस्वरूप मानना शुरु कर देते हैं। किसी भ्रम के कारण वे स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं अथवा उनके निश्चयाभासी गुरु ने ही उन्हें ज्ञानी होने का प्रमाण पत्र दिया होगा। इससे उनका अज्ञान ही प्रकट होता है, जिसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की अधिकता है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं।

गाथार्थ :—[बन्धानां स्वभावं च] बन्धोंके स्वभावको [आत्मनः स्वभावं च] और आत्माके स्वभावको [विज्ञाय] जानकर [बन्धेषु] बन्धोंके प्रति [यः] जो [विरज्यते] विरक्त होता है, [सः] वह [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मोंसे मुक्त होता है। (293)

यहाँ कहा गया है कि "आत्माके स्वभावको जानकर बन्धोंके प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मोंसे मुक्त होता है।" इसका अर्थ यह है कि जो आत्मा के स्वभाव का अनुभव कर लेता है, इससे वह कर्मों से दूर हो जाता है। यहाँ "आत्माके स्वभावको जानकर" का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि इसकी मात्र शाब्दिक जानकारी से जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा होता तो हमें कर्मों से तभी मुक्त हो जाना चाहिये था जब हमने अनंतकाल से कई बार इसका ज्ञान प्राप्त किया था। यह इस हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि कई निश्चयाभासी प्रचारक ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं इसे ग़लत समझते हैं और कई अज्ञानी लोगों को भी यही उपदेश देते हैं। जो इस दौर की बेहद करुणाजनक कहानी है।

'आत्मा और बन्ध किस(साधन)के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :—

गाथार्थ :—[जीवः च तथा बन्धः] जीव तथा बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] नियत स्वलक्षणोंसे (अपने-अपने निश्चित लक्षणोंसे) [छिद्येते] छेदे जाते हैं; [प्रज्ञाछेदनकेन] प्रज्ञारूप छेनीके द्वारा [छिन्नौ तु] छेदे जाने पर [नानात्वम् आपन्नौ] वे नानापनको प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं। (294)

टीका :—आत्मा और बन्धको द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसके [1]करण सम्बन्धी [2]मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनयसे) अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे

भगवती प्रज्ञा ही (–ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (–छेदनके स्वभाववाला) करण है। उस प्रज्ञाके द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्वको प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्धको द्विधा किया जाता है (अर्थात् प्रज्ञारूप करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुदे किये जाते हैं)।

(यहाँ प्रश्न होता है कि–) आत्मा और बन्ध जो कि [१]चेत्यचेतकभावके द्वारा अत्यन्त निकटताके कारण एक (–एक जैसे–) हो रहे हैं, और भेदविज्ञानके अभावके कारण, मानो वे एक चेतक ही हों ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है (अर्थात् जिन्हें एक आत्माके रूपमें ही व्यवहारमें माना जाता है) उन्हें प्रज्ञाके द्वारा वास्तवमें कैसे छेदा जा सकता है?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं :—) आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षणोंकी सूक्ष्म अन्त:संधिमें (अन्तरंगकी संधिमें) प्रज्ञाछेनीको सावधान होकर पटकनेसे (–डालनेसे, मारनेसे) उनको छेदा जा सकता है अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है, ऐसा हम जानते हैं।

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्योंसे असाधारण है (–वह अन्य द्रव्योंमें नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं, इसप्रकार लक्षित करना (–लक्षणसे पहचानना) चाहिये, (अर्थात् जिन-जिन गुणपर्यायोंमें चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है; वे सब गुणपर्यायें आत्मा हैं ऐसा जानना चाहिए) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्यलक्षणसे ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायोंके साथ चैतन्यका अविनाभावीपना होनेसे चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिए। इतना आत्माके स्वलक्षणके सम्बन्धमें है। (294)

भावार्थ :—आत्मा और बन्ध दोनोंको लक्षणभेदसे पहचान कर बुद्धिरूप छेनीसे छेदकर भिन्न-भिन्न करना चाहिए।

आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओंका स्कन्ध है, इसलिये छद्मस्थके ज्ञानमें दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते, मात्र एक स्कन्ध ही दिखाई देता है; (अर्थात् दोनों एक पिण्डरूप दिखाई देते हैं) इसलिये अनादि अज्ञान है। श्री गुरुओंका उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके जानना चाहिए कि चैतन्यमात्र तो आत्माका लक्षण है और रागादिक बन्धका लक्षण है, तथापि मात्र ज्ञेयज्ञायकभावकी अति निकटतासे वे एक जैसे ही दिखाई देते हैं। इसलिये तीक्ष्ण बुद्धिरूप छेनीको—जो कि उन्हें भेदकर भिन्न-भिन्न करनेका शस्त्र है उसे—उनकी सूक्ष्म संधिको ढूँढकर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पड़ते ही दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं। और ऐसा होने पर, आत्माको ज्ञानभावमें ही और बन्धको अज्ञानभावमें रखना चाहिए। इसप्रकार दोनोंको भिन्न करना चाहिए॥२९४॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[इयं शिता प्रज्ञाछेत्री] यह प्रज्ञारूप तीक्ष्ण छैनी [निपुणैः] प्रवीण

पुरुषोंके द्वारा [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे (–यत्नपूर्वक) [सावधानैः] सावधानतया (निष्प्रमादतया) [पातिता] पटकने पर, [आत्म-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे] आत्मा और कर्म—दोनोंके सूक्ष्म अन्तरंगमें सन्धिके बन्धमें [रभसात्] शीघ्र [निपतति] पड़ती है। किस प्रकार पड़ती है? [आत्मानम् अन्तः-स्थिर-विशद-लसद्-धाम्नि चैतन्यपूरे मग्नम्] वह आत्माको तो जिसका तेज अन्तरंगमें स्थिर और निर्मलतया देदीप्यमान है, ऐसे चैतन्यप्रवाहमें मग्न करती हुई [च] और [बन्धम् अज्ञानभावे नियमितम्] बन्धको अज्ञानभावमें निश्चल (नियत) करती हुई—[अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती] इसप्रकार आत्मा और बन्धको सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है। (181)

बहुत से लोग समझते हैं कि भेदज्ञान की विधि यहाँ बतायी गयी है। और इसलिये वे ऐसा करने के लिये प्रयासरत नजर आ रहे हैं| हालाँकि उनका काम नहीं हुआ है। उनको सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। स्वात्मानुभूति नहीं हुई। क्योंकि वे नहीं जानते कि यहाँ कहा गया है कि "यह प्रज्ञारुपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषोंके द्वारा..." इसमें प्रवीण पुरुष की दो तरह से व्याख्या की जा सकती है। एक, प्रवीण पुरुष का अर्थ है सम्यग्दृष्टि और दूसरे, प्रवीण पुरुष यानी आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ रखनेवाला आत्मसन्मुख जीव। सही अर्थघटन न कर पाने के कारण ही निश्चयाभासी उपदेशक ऐसा बौद्धिक प्रयास करते प्रतीत होते हैं, और वे ऐसा बौद्धिक प्रयास करने और ऐसा मानने के लिये ही उपदेश भी देते हैं। इससे उनका अज्ञान प्रकट होता है, जिसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की अधिकता है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं।

गाथार्थ :—[तथा] इसप्रकार [जीवः बन्धः च] जीव और बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] अपने निश्चित स्वलक्षणोंसे [छिद्येते] छेदे जाते हैं। [बन्धः] वहाँ, बन्धको [छेत्तव्यः] छेदना चाहिए अर्थात् छोड़ना चाहिए [च] और [शुद्धः आत्मा] शुद्ध आत्माको [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए। (295)

यहाँ कहा गया है कि "शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये" इसका अर्थ है शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिये। यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक यह समझता है कि "शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये" का अर्थ बौद्धिक या ध्यान से ग्रहण करना है, तो यह एक भयानक ग़लती है। हमारी तो सलाह है कि आप अपनी ग़लती सुधारें और अपने अनंतकाल को सुखमय बनाएं। कई लोग कहते हैं कि जानकारी से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आसान हो जायेगी। अगर ऐसा है तब तो हमें नौ पूर्वों की जानकारी से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाना चाहिये था। क्योंकि हमने नौ पूर्वों की जानकारी तो कई बार अर्जित की है, ऐसा भगवानने बताया है। हमारी यह ग़लतफ़हमी हमें तुरंत ही दूर करनी चाहिये। इससे जानकारी तो बढ़ेगी परन्तु बिना वैराग्यादि योग्यताओं के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो दुर्लभ ही होगी। इसलिये सबसे पहले वैराग्यादि योग्यताएँ अर्जित करना चाहिये।

गाथार्थ :—(शिष्य पूछता है कि—) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाय? (आचार्य उत्तर देते हैं कि–) [प्रज्ञया तु] प्रज्ञाके द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है। [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञा द्वारा [विभक्तः] भिन्न किया, [तथा] उसीप्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञाके द्वारा ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए। (296)

टीका :—यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए? प्रज्ञाके द्वारा ही यह शुद्ध आत्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है—जैसे भिन्न करनेमें प्रज्ञा ही एक करण था। इसलिये जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था, उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए। (296)

यहाँ कहा गया है कि "प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये" इसका अर्थ है आध्यात्मिक प्रज्ञा के साथ यानी वैराग्यादि योग्यतायुक्त आत्मा का आत्मसन्मुख ज्ञान द्वारा ग्रहण करना चाहिये। वास्तव में यह वैराग्यादि योग्यतायुक्त आत्मा का आत्मसन्मुख ज्ञान होने से शुद्धात्मा स्वतः ही ग्रहण (अनुभव) हो जाती है। "ग्रहण करना" इसलिये कहा क्योंकि यह शिष्य के लिये एक उपदेशात्मक कथन है। यह समझना बहुत ज़रूरी है।

गाथार्थ :—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्माको) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि—[यः चेतयिता] जो चेतनेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं, [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए। (297)

आध्यात्मिक प्रज्ञा यानी आत्मा की वैराग्यादि योग्यतायुक्त आत्मा का आत्मसन्मुख ज्ञान द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना कि "जो चेतनेवाला है वह मैं निश्चयसे मैं हूँ।" अनेक साधक हमारे पास शिकायत लेकर आते हैं कि "जो चेतनेवाला है वह मैं निश्चयसे मैं हूँ।" यह बहुत ही सरल विधि है, परन्तु ऐसा करने से हमें स्वात्मानुभूति तो नहीं होती। हम उन्हें बताते हैं कि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना शुद्धनिश्चयनय (अनुभूति का विषय) को केवल शब्दों में ग्रहण करने से स्वात्मानुभूति संभव ही नहीं है। यही कारण है कि हमने "निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि" विषय पर एक लेख भी लिखा है। उसका बार-बार अध्ययन करना चाहिये जिससे यह समझ में आ जाये कि यहाँ बताई गयी सम्यग्दर्शन की विधि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने के बाद ही कार्यकारी होगी। यह समझना बहुत ज़रूरी है।

श्लोकार्थ :—[यत् भेत्तुं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्त्वा] जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भेदकर, [चिन्मुद्रा-अंकित-निर्विभाग-महिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अस्मि] जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यकी मुद्रासे अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। [यदि कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्] यदि कारकोंके, अथवा धर्मोंके, या गुणोंके भेद हों तो भले हों; [विभौ विशुद्धे चिति भावे काचन भिदा न अस्ति] किन्तु [१]विभु ऐसे शुद्ध (–समस्त विभावोंसे रहित–) चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है। (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है।) (182)

गाथार्थ :—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि—[यः द्रष्टा] जो देखनेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहम्] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं, [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए। (298)

[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि—[यः ज्ञाता] जो जाननेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहम्] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं, [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए। (299)

आध्यात्मिक प्रज्ञा का अर्थ है वैराग्यादि योग्यतायुक्त आत्मा का आत्मसन्मुख ज्ञानसहित ऐसे ग्रहण करना कि "जो देखनेवाला है वह निश्चयसे मैं हूँ" और "जो जाननेवाला है वह निश्चयसे मैं हूँ" आत्मा की वैराग्यादि योग्यतारहित मात्र शब्दों में ही ग्रहण करनेवाले अज्ञानी को यह गाथाएँ कार्यकारी होना संभव ही नहीं है। इसलिये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं हो पाती। निश्चयाभासी प्रचारकों के लिये यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसी समझ में उनका और कई अन्य लोगों का कल्याण निहित है। अन्यथा अनन्त दुःख निश्चित है।

(**भावार्थ** :—इन तीन गाथाओंमें, प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका 'ग्रहण करना' है।

गाथार्थ :—[**सर्वान् भावान्**] सर्व भावोंको [**परकीयान्**] दूसरोंके [**ज्ञात्वा**] जानकर [**कः नाम बुधः**] कौन ज्ञानी, [**आत्मानम्**] अपनेको [**शुद्धम्**] शुद्ध [**जानन्**] जानता हुआ, [**इदम् मम**] 'यह मेरा है' (—'यह भाव मेरे हैं') [**इति च वचनम्**] ऐसा वचन [**भणेत्**] बोलेगा? (300)

जैसे कि पहले बताया गया है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। ज्ञानी अभिप्राय से केवल शुद्धात्मा ही होता है, अन्य कुछ नहीं होता।

श्लोकार्थ :—[**उदात्तचित्तचरितैः मोक्षार्थिभिः**] जिनके चित्तका चरित्र उदात्त (—उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी [**अयम् सिद्धान्तः**] इस सिद्धांतका [**सेव्यताम्**] सेवन करें कि— '[**अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि**] मैं तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ; [**तु**] और [**एते ये पृथग्लक्षणाः विविधाः भावाः समुल्लसन्ति ते अहं न अस्मि**] जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, [**यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यम्**] क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं'।१८५।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**परद्रव्यग्रहं कुर्वन्**] जो परद्रव्यको ग्रहण करता है [**अपराधवान्**] वह अपराधी है, [**बध्येत एव**] इसलिये बन्धमें पड़ता है, और [**स्वद्रव्ये संवृतः यतिः**] जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त है—मग्न है—संतुष्ट है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति [**अनपराधः**] निरपराधी है, [**न बध्येत**] इसलिये बँधता नहीं है।१८६।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी बार-बार आत्मस्थिरता करते हैं और वे अभिप्राय से परद्रव्यों को छोड़ते हैं। इसी लिये वे अबन्ध होते हैं। यदि अज्ञानी इसे शब्दों में ग्रहण करेते हैं तो उन्हें कोई लाभ नहीं होता पर वे निश्चयाभासी ही बनते हैं।

गाथार्थ :—[**यः**] जो पुरुष [**स्तेयादीन् अपराधान्**] चोरी आदिके अपराध [**करोति**] करता है, [**सः तु**] वह '[**जने विचरन्**] लोकमें घूमता हुआ [**केन अपि**] मुझे कोई [**चौरः इति**] चोर समझकर [**मा बध्ये**] पकड़ न ले', इसप्रकार [**शङ्कितः भ्रमति**] शंकित होता हुआ घूमता

है; [यः] जो पुरुष [अपराधान्] अपराध [न करोति] नहीं करता [सः तु] वह [जनपदे] लोकमें [निश्शङ्कः भ्रमति] नि:शंक घूमता है, [यद्] क्योंकि [तस्य] उसे [बद्धुं चिन्ता] बँधनेकी चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती। [एवम्] इसीप्रकार [चेतयिता] अपराधी आत्मा '[सापराधः अस्मि] मैं अपराधी हूँ, [बध्ये तु अहम्] इसलिये मैं बँधूँगा' इसप्रकार [शङ्कितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो '[अहं न बध्ये] मैं नहीं बँधूँगा' इसप्रकार [निश्शंङ्कः] नि:शंक होता है। (301-303)

यहाँ बहुत स्पष्ट कहा गया है कि "परद्रव्यों को त्यागकर शुद्धात्मा को ग्रहण करो। तभी निरपराध होते हो।" यानी ज्ञानी ही निरपराध होते हैं। बल्कि निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी निरपराधस्वरूप होने का उपदेश देते हैं और स्वयं को निरपराधस्वरूप ही मान लेने को कहते हैं। उन्हें स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द करना चाहिये। क्योंकि स्वात्मानुभूति के बिना निरपराधस्वरूप का अनुभव नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसे उपदेश से अज्ञानी लोग नयाभास के कारण वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को निरपराधस्वरूप समझने लगते हैं और संसार में डूबे रहते हैं। ऐसे उपदेश के कारण कुछ निश्चयाभासी उपदेशकों को भ्रम उत्पन्न हो गया है इसलिये वे स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं या हो सकता है कि उन्हें उनके निश्चयाभासी गुरु द्वारा ज्ञानी होने का प्रमाणपत्र दिया गया हो। इससे उनका अज्ञान ही प्रकट होता है जिसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी तो विरले ही हैं।

[पुनः] और [यः चेतयिता] जो आत्मा [निरपराधः] निरपराध है [सः तु] वह [निश्शङ्कितः भवति] नि:शंक होता है; [अहम् इति जानन्] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ [आराधनया] आराधनासे [नित्यं वर्तते] सदा वर्तता है। (305)

यहाँ कहा गया है कि "जो शुद्धात्मा है सो ही मैं हूँ, ऐसा जानता हुआ आराधनासे सदा वर्तता है" इसका अर्थ है कि मैं शुद्धात्मा हूँ ऐसा अनुभव करते हुए सदैव आराधनारत रहता है। जानने का अर्थ है अनुभव करना। यह दर्शनमोहनीय का कार्य है, नहीं कि ज्ञानावरणीय का यानी शब्दों में जानना नहीं समझना है। अगर शब्दों में जानने से ही आराधना हो जाती तब तो हमारा कल्याण कब का हो जाना था।

श्लोकार्थ :—[सापराधः] सापराध आत्मा [अनवरतम्] निरन्तर [अनन्तैः] अनंत पुद्गलपरमाणुरूप कर्मोंसे [बध्यते] बँधता है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा [बन्धनम्] बन्धनको [जातु] कदापि [स्पृशति न एव] स्पर्श नहीं करता। [अयम्] जो सापराध आत्मा है वह तो [नियतम्] नियमसे [स्वम् अशुद्धं भजन्] अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ

[सापराधः] सापराध है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा तो [साधु] भलीभाँति [शुद्धात्मसेवी भवति] शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला होता है।१८७।

यहाँ पर उपरोक्त भावों की ही पुष्टि होती हैं। शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला अर्थात् अनुभव करनेवाला। शब्दों से सेवन करनेवाला नहीं समझना। वह तो निश्चयाभासी बन जाता है।

गाथार्थ :—[**प्रतिक्रमणम्**] प्रतिक्रमण, [**प्रतिसरणम्**] प्रतिसरण, [**परिहारः**] परिहार, [**धारणा**] धारणा, [**निवृत्तिः**] निवृत्ति, [**निन्दा**] निन्दा, [**गर्हा**] गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि— [**अष्टविधः**] यह आठ प्रकारका [**विषकुम्भः**] विषकुंभ [**भवति**] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्वकी बुद्धि सम्भवित है)। (306)

[**अप्रतिक्रमणम्**] अप्रतिक्रमण, [**अप्रतिसरणम्**] अप्रतिसरण, [**अपरिहारः**] अपरिहार, [**अधारणा**] अधारणा, [**अनिवृत्तिः च**] अनिवृत्ति, [**अनिन्दा**] अनिन्दा, [**अगर्हा**] अगर्हा [**च एव**] और [**अशुद्धिः**] अशुद्धि—[**अमृतकुम्भः**] यह अमृतकुंभ है (क्योंकि इससे कर्तृत्वका निषेध है—कुछ करना ही नहीं है, इसलिये बन्ध नहीं होता)। (307)

टीका :—प्रथम तो जो अज्ञानीजनसाधारण (–अज्ञानी लोगोंको साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होनेसे विषकुम्भ ही है; उनका विचार करनेका क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे, सर्व अपराधरूप विषके दोषोंको (क्रमशः) कम करनेमें समर्थ होनेसे अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार आचारसूत्रमें कहा है) तथापि प्रतिक्रमण–अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिकाको न देखनेवाले पुरुषको वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे विपक्ष (अर्थात् बन्धका) कार्य करते होनेसे विषकुम्भ ही हैं। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूप विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिको भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमिसे ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है। इसलिये, तीसरी भूमिसे ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्तिके लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं। ऐसा होनेसे यह नहीं मानना चाहिए कि (निश्चयनयका) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादिको छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है? द्रव्यप्रतिक्रमणादिसे छुड़ा नहीं देता (–अटका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण–अप्रतिक्रमणादिसे अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थमें ही आगे कहेंगे कि—[1]कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ (**अर्थ** :—अनेक प्रकारके विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे जो अपने आत्माको निवृत्त कराता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।) इत्यादि। (306-307)

यहाँ कहा गया है कि "अज्ञानीजनसाधारण अप्रतिक्रमणादि है वे तो शुद्धात्मा की सिद्धिके (अनुभवके) अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिये स्वयमेव अपराधरुप होनेसे वे विषकुम्भ हैं" यहाँ अज्ञानी को अपराधरुप और विषकुम्भ कहा। बल्कि निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी निरपराधस्वरुप होने का उपदेश देते हैं या स्वयं को निरपराधस्वरुप मानने का उपदेश देते हैं। जब कोई अज्ञानी स्वयं को निरपराधस्वरुप मानता है तो वह नयाभास के कारण वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को निरपराधस्वरुप मानने लगता है। निश्चयाभासी प्रचारकों को स्वयं को और कई अन्य लोगों को इस प्रकार धोखा देना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि स्वात्मानुभूति के बिना निरपराधस्वरुप आत्मा का अनुभव ही नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसे उपदेश से अज्ञानी और स्वयं भी संसार में डूबे रहते हैं। ऐसे उपदेश

के कारण कुछ लोग स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं या उन्हें उनके निश्चयाभासी गुरु द्वारा ज्ञानी होने का प्रमाणपत्र दिया गया होता है। वही उनकी अज्ञानता को प्रकट करता है, जिसका फल अनन्त संसार है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का ही प्रभाव है कि निश्चयाभासी प्रचारकों की ही अधिकता है। ज्ञानी तो विरले ही हैं। आगे कहा गया है कि "जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि (स्वात्मानुभूति) है वह, स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूप विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है.." इससे समझ आता है कि "समयसार" शास्त्र में मुख्यतः ज्ञानी की दशा का ही वर्णन किया गया है। और यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को भी इस "समयसार" शास्त्र में वर्णित भावों को शब्दरूप से या ध्यानपूर्वक चिन्तन करने या मान लेने के लिये कहते हैं तो नयाभास के कारण से कई अज्ञानी स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही ऐसा मानने लगते हैं। इस प्रकार निश्चयाभासी प्रचारकों को स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा देना बन्द कर देना चाहिये।

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिको अमृतकुम्भ कहा, इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादिको छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझानेके लिए कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[यत्र प्रतिक्रमणम् एव विषं प्रणीतं] (हे भाई!) जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, [तत्र अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुतः स्यात्] वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता।) [तत्] तब फिर [जनः अधः अधः प्रपतन् किं प्रमाद्यति] मनुष्य नीचे ही नीचे गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं? [निष्प्रमादः] निष्प्रमादी होते हुए [ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहति] ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते? (189)

भावार्थ :—अज्ञानावस्थामें जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही क्या? किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादिका पक्ष छुड़ानेके लिए उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रमणादिको) तो निश्चयनयकी प्रधानतासे विषकुम्भ कहा है, क्योंकि वे कर्मबन्धके ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादिसे रहित होनेसे अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँके अप्रतिक्रमणादिको अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ानेके लिये आचार्यदेवने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहनेकी बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं कि—'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं? तृतीय भूमिमें ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?' जहाँ प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहा है वहाँ निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानीका नहीं। इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानीके अप्रतिक्रमणादि नहीं जानने चाहिए, किन्तु तीसरी भूमिके शुद्ध आत्मामय जानने चाहिए।१८९।

भावार्थ :—प्रमाद तो कषायके गौरवसे होता है, इसलिये प्रमादीके शुद्ध भाव नहीं होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभावमें प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त करता है।१९०।

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा] जो पुरुष

वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर [स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति] स्वयं स्वद्रव्यमें लीन होता है, [सः] वह पुरुष [नियतम्] नियमसे [सर्व-अपराध-च्युतः] सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, [बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदितः] बन्धके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, [स्व-ज्योतिः-अच्छ-उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा] अपनी ज्योतिसे (आत्मस्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूप अमृतका प्रवाह उसके द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा [शुद्धः भवन्] शुद्ध होता हुआ, [मुच्यते] कर्मोंसे मुक्त होता है। (191)

—९—

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

श्लोकार्थ :—[अखिलान् कर्तृ-भोक्तृ-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा] समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावोंको सम्यक् प्रकारसे (भलीभाँति) नाशको प्राप्त कराके [प्रतिपदम्] पद-पद पर (अर्थात् कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाली प्रत्येक पर्यायमें) [बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः] बन्ध-मोक्षकी रचनासे दूर वर्तता हुआ, [शुद्धः शुद्धः] शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरणसे रहित), [स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चिः] जिसका पवित्र अचल तेज निजरसके (–ज्ञानरसके, ज्ञानचेतनारूप रसके) विस्तारसे परिपूर्ण है ऐसा, और [टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा] जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा, [अयं ज्ञानपुंजः स्फूर्जति] यह ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है। (193)

भावार्थ :—शुद्धनयका विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्वभोक्तृत्वके भावोंसे रहित है, बन्धमोक्षकी रचनासे रहित है, परद्रव्यसे और परद्रव्यके समस्त भावोंसे रहित होनेसे शुद्ध है, निजरसके प्रवाहसे पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।१९३।

अब सर्वविशुद्ध ज्ञानको प्रगट करते हैं। उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभावसे रहित है' इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न] कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्माका स्वभाव नहीं है, [वेदयितृत्ववत्] जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है। [अज्ञानात् एव अयं कर्ता] वह अज्ञानसे ही कर्ता है, [तद्-अभावात् अकारकः] अज्ञानका अभाव होने पर अकर्ता है।१९४।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। ज्ञानी अकर्ता होते हैं और अज्ञानी कर्ता होते हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसलिये यदि कोई निश्चयाभासी प्रचारक स्वयं को अकर्ता मान लेने का उपदेश देता हैं तो उसे यह बात समझ लेनी चाहिये। यदि वह इस "समयसार" शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना तथा अन्य कई लोगों का यह जीवन तथा अनन्त भविष्य सुखमय करना चाहता हैं तो उसे यहाँ वर्णित बातों को समझना चाहिये, स्वयं पर दया करनी चाहिये, सत्य को

समझना चाहिये और सत्य के उपदेश को स्वीकार करना चाहिये तथा वही सत्य दूसरों को भी बताना चाहिये। अन्यथा अनन्त दुःख इन्तज़ार कर रहे है।

गाथार्थ :—[यत् द्रव्यं] जो द्रव्य [गुणैः] जिन गुणोंसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है, [तैः] उन गुणोंसे [तत्] उसे [अनन्यत् जानीहि] अनन्य जानो; [यथा] जैसे [इह] जगतमें [कटकादिभिः पर्यायैः तु] कड़ा इत्यादि पर्यायोंसे [कनकम्] सुवर्ण [अनन्यत्] अनन्य है वैसे। (308)

[जीवस्य अजीवस्य तु] जीव और अजीवके [ये परिणामाः तु] जो परिणाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्रमें बताये हैं, [तैः] उन परिणामोंसे [तं जीवम् अजीवम् वा] उस जीव अथवा अजीवको [अनन्यं विजानीहि] अनन्य जानो। (309)

यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद केवल समझाने के लिये ही किया है। यह कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसलिये अगर कोई इस में प्रदेशभेद मानता है या फिर इसके षट्कारकों को अलग मानता है तो ये वास्तविकता से बहुत दूर हैं।

गाथार्थ :—[चेतयिता तु] चेतक अर्थात् आत्मा [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृतिके निमित्तसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] और नष्ट होता है, [प्रकृतिः अपि] तथा प्रकृति भी [चेतकार्थम्] चेतक अर्थात् आत्माके निमित्तसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा नष्ट होती है। [एवं] इसप्रकार [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्तसे [द्वयोः अपि] दोनोंका—[आत्मनः प्रकृतेः च] आत्माका और प्रकृतिका—[बन्धः तु भवेत्] बन्ध होता है, [तेन] और इससे [संसारः] संसार [जायते] उत्पन्न होता है। (312-313)

भावार्थ :—आत्माके और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिओंके परमार्थसे कर्ताकर्मभावका अभाव है तथापि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावके कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसीसे कर्ताकर्मपनेका व्यवहार है।।३१२-३१३।।

यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया गया है। उसे न मानना भी ग़लत ही कहा जायेगा।

गाथार्थ :—[यावत्] जब तक [एषः चेतयिता] यह आत्मा [प्रकृत्यर्थं] प्रकृतिके निमित्तसे उपजना-विनशना [न एव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता, [तावत्] तब तक वह [अज्ञायकः] अज्ञायक है, [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि है, [असंयतः भवेत्] असंयत है। (314)

[यदा] जब [चेतयिता] आत्मा [अनन्तकम् कर्मफलम्] अनन्त कर्म फलको [विमुञ्चति] छोड़ता है, [तदा] तब वह [ज्ञायकः] ज्ञायक है, [दर्शकः] दर्शक है, [मुनिः] मुनि है, [विमुक्तः भवति] विमुक्त अर्थात् बन्धसे रहित है। (315)

भावार्थ :—जब तक यह आत्मा स्व-परके लक्षणको नहीं जानता तब तक वह भेदज्ञानके अभावके कारण कर्मप्रकृतिके उदयको अपना समझकर परिणमित होता है, इसप्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्मका बन्ध करता है। और जब आत्माको भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिये कर्मका बन्ध नहीं करता, ज्ञाताद्रष्टारूपसे परिणमित होता है। (314-315)

'इसप्रकार भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[कर्तृत्ववत्] कर्तृत्वकी भाँति [भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न] भोक्तृत्व भी इस चैतन्यका (चित्स्वरूप आत्माका) स्वभाव नहीं कहा है। [अज्ञानात् एव अयं भोक्ता] वह अज्ञानसे ही भोक्ता है, [तद्-अभावात् अवेदकः] अज्ञानका अभाव होने पर वह अभोक्ता है।१९६।

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अज्ञानी में कर्ता-भोक्ता की प्रवृत्ति होती है। जबकि ज्ञानी को पर का कर्ता-भोक्ताभाव नहीं है। कई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी लोगों को भी अकर्ता-अभोक्ता का उपदेश देते हैं। इससे ही उनकी अज्ञानता का पता चलता है। यह बहुत करुणाजनक बात है।

गाथार्थ :—[अज्ञानी] अज्ञानी [प्रकृतिस्वभावस्थितः तु] प्रकृतिके स्वभावमें स्थित रहता हुआ [कर्मफलं] कर्मफलको [वेदयते] वेदता (भोगता) है [पुनः ज्ञानी] और ज्ञानी तो [उदितं कर्मफलं] उदित (उदयागत) कर्मफलको [जानाति] जानता है, [न वेदयते] भोगता नहीं। (316)

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है।

भावार्थ :—अज्ञानीको तो शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है, इसलिये जो कर्म उदयमें आता है उसीको वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानीको शुद्ध आत्माका अनुभव हो गया है, इसलिए वह उस प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता।।३१६।।

श्लोकार्थ :—[अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्] अज्ञानी प्रकृति-स्वभावमें लीन-रक्त होनेसे (-उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये-) सदा वेदक है, [तु] और [ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः जातुचित् वेदकः नो] ज्ञानी तो प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे (-उसे परका स्वभाव जानता है इसलिए-) कदापि वेदक नहीं है। [इति एवं नियमं निरूप्य] इसप्रकारके नियमको भलीभाँति विचार करके—निश्चय करके [निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्] निपुण पुरुषो अज्ञानीपनको छोड़ दो और [शुद्ध-एक-आत्ममये महसि] शुद्ध-एक-आत्मामय तेजमें [अचलितैः] निश्चल होकर [ज्ञानिता आसेव्यताम्] ज्ञानीपनेका सेवन करो।१९७।

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम है) :—

गाथार्थ :—[सुष्ठु] भली भाँति [शास्त्राणि] शास्त्रोंको [अधीत्य अपि] पढ़कर भी [अभव्यः] अभव्य जीव [प्रकृतिम्] प्रकृतिको (अर्थात् प्रकृतिके स्वभावको) [न मुञ्चति] नहीं छोड़ता, [गुडदुग्धम्] जैसे मीठे दूधको [पिबन्तः अपि] पीते हुए [पन्नगाः] सर्प [निर्विषाः] निर्विष [न भवन्ति] नहीं होते। (317)

टीका :—जैसे इस जगतमें सर्प विषभावको अपने आप नहीं छोड़ता और विषभावको छुड़ानेमें समर्थ ऐसे मिश्रीसहित दुग्धपानसे भी नहीं छोड़ता, इसीप्रकार वास्तवमें अभव्य जीव प्रकृतिस्वभावको अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभावको छुड़ानेमें समर्थ ऐसे द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानके (-शुद्ध आत्माके ज्ञानके) अभावके कारण, अज्ञानीपन है। इसलिये यह नियम किया जाता है (—ऐसा नियम सिद्ध

होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें स्थित होनेसे वेदक ही है (-कर्मका भोक्ता ही है)।(317)

भावार्थ :—इस गाथामें, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है। यहाँ अभव्यका उदाहरण युक्त है। जैसे :—अभव्यका स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुतका ज्ञान आदि बाह्य कारणोंके मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण, कर्मोदयको भोगनेके स्वभावको नहीं बदलता; इसलिये इस उदाहरणसे स्पष्ट हुआ कि शास्त्रोंका ज्ञान इत्यादि होने पर भी जब तक जीवको शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानीपन है तब तक वह नियमसे भोक्ता ही है।।३१७।।

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है। वे सब को एक समान ही उपदेश देते हैं। इसी से उनकी अज्ञानता उजागर होती है। वे भले ही स्वयं को ज्ञानी मानते हो पर वास्तव में वे अज्ञानी ही है यह प्रमाणित होता है।

टीका :—ज्ञानी तो जिसमेंसे भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञानके (-शुद्ध आत्माके ज्ञानके) सद्भावके कारण, परसे अत्यन्त विरक्त होनेसे प्रकृति-(कर्मोदय)के स्वभावको स्वयमेव छोड़ देता है, इसलिये उदयमें आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफलको ज्ञातापनेके कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञानके होने पर (-ज्ञान हो तब) परद्रव्यको 'अहं'रूपसे अनुभव करनेकी अयोग्यता होनेसे (उस कर्मफलको) नहीं वेदता। इसलिये, ज्ञानी प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे अवेदक ही है। (318)

भावार्थ :—जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है, और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थसे भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्यायसे ज्ञानी—जो कि प्रकृतिस्वभावको (कर्मोदयको) अपना न जाननेसे उससे विरक्त है वह—स्वयमेव तो प्रकृतिस्वभावको नहीं भोगता, और उदयकी बलवत्तासे परवश होता हुआ अपनी निर्बलतासे भोगता है तो उसे परमार्थसे भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहारसे भोक्ता कहलाता है। किन्तु व्यवहारका तो यहाँ शुद्धनयके कथनमें अधिकार नहीं है; इसलिये ज्ञानी अभोक्ता ही है।।३१८।।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते**] ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, [**तत्स्वभावम् अयं किल केवलम् जानाति**] वह कर्मके स्वभावको मात्र जानता ही है। [**परं जानन्**] इसप्रकार मात्र जानता हुआ [**करण-वेदनयोः अभावात्**] करने और वेदनेके (भोगनेके) अभावके कारण [**शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव**] शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तवमें मुक्त ही है। (198)

भावार्थ :—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिये वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदयमें आता भी है, फिर भी वह ज्ञानीका क्या कर सकता है? जब तक निर्बलता रहती है तबतक कर्म जोर चला ले; ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्तमें कर्मका समूल नाश करेगा ही।१९८।

अब इसी अर्थको पुनः दृढ़ करते हैं :—

गाथार्थ :—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकारके [**कर्माणि**] कर्मोंको [**न अपि करोति**] न तो करता है, [**न अपि वेदयते**] और न वेदता (भोगता) ही है; [**पुनः**] किन्तु [**पुण्यं**

च पापं च] पुण्य और पापरूप [बन्धं] कर्मबन्धको [कर्मफलं] तथा कर्मफलको [जानाति] जानता है। (319)

टीका :—ज्ञानी कर्मचेतना रहित होनेसे स्वयं अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होनेसे स्वयं अवेदक (–अभोक्ता) है, इसलिए वह कर्मको न तो करता है और न वेदता (–भोगता) है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होनेसे मात्र ज्ञाता ही है, इसलिये वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्धको तथा कर्मफलको मात्र जानता ही है ॥३१९॥

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है। शब्दों के रूप में जानकारी ले लेने से ही ज्ञानी नहीं बन जाते।

भावार्थ :—ज्ञानका स्वभाव नेत्रकी भाँति दूरसे जानना है; इसलिये ज्ञानके कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि—"ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जब तक मोहकर्मका उदय है तब तक सुखदुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायका उदय है तब तक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होनेसे पूर्व ज्ञातादृष्टापन कैसे कहा जा सकता है ?" उसका समाधान :—पहलेसे ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतन्त्रतया करता-भोगता है, वह परमार्थसे कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिये जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका अभाव हुआ वहाँ परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया तो किसीका कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलतासे कर्मके उदयकी बलवत्तासे जो कार्य होता है उसका परमार्थदृष्टिसे वह कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्यके निमित्तसे कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है वही संसार है। मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका अभाव ही होता है। समुद्रमें एक बुंदकी गिनती ही क्या है ? (320)

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। आत्मानुभूति करने का उपदेश होता है, स्वयं को अनुभूतिस्वरुप मान लेने का उपदेश नहीं होता।

श्लोकार्थ :—[परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति] परद्रव्य और आत्मतत्त्वका सम्पूर्ण ही (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; [कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्ध-अभावे] इसप्रकार कर्तृ-कर्मत्वके सम्बन्धका अभाव होनेसे, [तत्कर्तृता कुतः] आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ? (200)

भावार्थ :—परद्रव्य और आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्मसम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसप्रकार जहाँ कर्ताकर्मसम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो सकता है ? २००।

[तस्मात्] इसलिये तत्त्वज्ञ [न मे इति ज्ञात्वा] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [एतेषां द्वयेषाम् अपि] इन दोनोंका (–लोकका और श्रमणका–) [परद्रव्ये] परद्रव्यमें [कर्तृव्यवसायं जानन्] कर्तृत्वके व्यवसायको जानते हुए, [जानीयात्] यह जानते हैं कि [दृष्टिरहितानाम्] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषोंका है। (327)

परद्रव्यों के साथ आत्मा का कोई कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। फिर भी अज्ञानी कर्ता-कर्म संबंध मानता हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। निश्चयके ज्ञाता=शुद्धनय के अनुभवी।

टीका :—अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहारमें ही विमूढ़) होनेसे परद्रव्यको ऐसा देखते—मानते हैं कि 'यह मेरा है'; और ज्ञानीजन तो निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चयके ज्ञाता) होनेसे परद्रव्यकी कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते-मानते। इसलिये, जैसे इस जगतमें कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरेके गाँवमें रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार देखता-मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (-विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार यदि ज्ञानी भी किसी प्रकारसे व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्यको निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि—'लोक और श्रमण—दोनोंको जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है, वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितताके कारण ही है'। (324-325-326-327)

भावार्थ :—जो व्यवहारसे मोही होकर परद्रव्यके कर्तृत्वको मानते हैं, वे—लौकिकजन हों या मुनिजन हों—मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्यको 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।।३२४ से ३२७।।

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है। यहाँ जो कहा उसे कोई इस तरह कहे कि हम भी परद्रव्य को अपना नहीं मानते। तब हम भी ज्ञानी हैं ना? उनको हमारा उत्तर है कि केवल ऐसा मान लेने से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता। परन्तु जो स्वात्मानुभूतिसहित ज्ञानी है उसकी यह मान्यता अभिप्राय में ही होती है। व्यवहार से ज्ञानी भी "यह मेरा है" ऐसा कहता है। यहाँ अभिप्राय मायने रखता है।

श्लोकार्थ :—(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि :) [बत] अरेरे! [ये तु इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति] जो इस वस्तुस्वभावके नियमको नहीं जानते [ते वराकाः] वे बेचारे, [अज्ञानमग्नमहसः] जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञानमें डूब गया है ऐसे, [कर्म कुर्वन्ति] कर्मको करते हैं; [ततः एव हि] इसलिये [भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति] भावकर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, [अन्यः न] अन्य कोई नहीं। (202)

वस्तुस्वभाव के इस नियम को जानने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। बल्कि जो स्वात्मानुभूतिपूर्वक का ज्ञानी है, उसके अभिप्राय में वस्तुस्वभाव का यह नियम मौजूद होता है। व्यवहार से ज्ञानी भी कहता है "यह मेरा है"। बल्कि यहाँ अभिप्राय मायने रखता है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा विशेष ध्यान देने योग्य है। जो वस्तुके स्वरूपके नियमको अनुभूतिपूर्वक नहीं जानता वह अज्ञानी है।

भावार्थ :—वस्तुके स्वरूपके नियमको नहीं जानता, इसलिये परद्रव्यका कर्ता होता हुआ अज्ञानी (-मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभावमें परिणमित होता है; इसप्रकार अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं।२०२।

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। निश्चयाभासी उपदेशकों की हालत भी उपर कहे अनुसार ही होती हैं। आगे जो हकीकत बताते है उसे निश्चयाभासी उपदेशकों को स्वदया लाकर समझना हैं। आगे उन्हें आत्मघातक कहते हैं।

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभावका—भावकर्मका—कर्ता जीव ही है।)

टीका :—जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृतिका कार्य हो तो उसे (–भावकर्मको) अचेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्मको करे तो पुद्गलद्रव्यको चेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीवकी भाँति अचेतन प्रकृतिको भी उस (–भावकर्म)का फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके अकर्ता हैं सो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभावसे ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्वादि भावका प्रसंग आ जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि—जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)। (328-329-330-331)

यहाँ बहुत स्पष्ट रूप से उपादान को कर्ता कहा गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है।

श्लोकार्थ :—[कर्म कार्यत्वात् अकृतं न] जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसीके द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। [च] और [तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न] ऐसे भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनोंकी कृति हो, [अज्ञायाः प्रकृतेः स्व-कार्य-फल-भुग्-भाव-अनुषंगात्] क्योंकि यदि वह दोनोंका कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृतिको भी अपने कार्यका फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा। [एकस्याः प्रकृतेः न] और वह (भावकर्म) एक प्रकृतिकी कृति (–अकेली प्रकृतिका कार्य–) भी नहीं है, [अचित्त्वलसनात्] क्योंकि प्रकृतिका तो अचेतनत्व प्रगट है (अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है)। [ततः] इसलिये [अस्य कर्ता जीवः] उस भावकर्मका कर्ता जीव ही है [च] और [चिद्-अनुगं] चेतनका अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतनके साथ अन्वयरूप (–चेतनके परिणामरूप–) ऐसा [तत्] वह भावकर्म [जीवस्य एव कर्म] जीवका ही कर्म है, [यत्] क्योंकि [पुद्गलः ज्ञाता न] पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता)। (203)

भावार्थ :—चेतनकर्म चेतनके ही होता है; पुद्गल जड़ है, उससे चेतनकर्म कैसे हो सकता है? ।२०३।

अब आगेकी गाथाओंमें, जो भावकर्मका कर्ता भी कर्मको ही मानते हैं उन्हें समझानेके लिए स्याद्वादके अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[कैश्चित् हतकैः] कोई आत्माके घातक (सर्वथा एकान्तवादी) [कर्म एव कर्तृ प्रवितर्क्य] कर्मको ही कर्ता विचार कर [आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा] आत्माके कर्तृत्वको उड़ाकर, '[एषः आत्मा कथंचित् कर्ता] यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' [इति

अचलिता श्रुतिः कोपिता] ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुतिको कोपित करते हैं (–निर्बाध जिनवाणीकी विराधना करते हैं); [**उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये**] जिनकी बुद्धि तीव्र मोहसे मुद्रित हो गई है ऐसे उन आत्मघातकोंके ज्ञानकी संशुद्धिके लिये (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) [**वस्तुस्थितिः स्तूयते**] वस्तुस्थिति कही जाती है—[**स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया**] जिस वस्तुस्थितिने स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियमसे निर्बाधतया सिद्ध होती है)। (204)

भावार्थ :—कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः कर्मका कर्ता कर्मको ही कहते हैं और आत्माको अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्माके घातक हैं। उन पर जिनवाणीका कोप है, क्योंकि स्याद्वादसे वस्तुस्थितिको निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्माको कथंचित् कर्ता कहती है। आत्माको अकर्ता ही कहनेवाले एकान्तवादियोंकी बुद्धि उत्कट मिथ्यात्वसे ढक गई है; उनके मिथ्यात्वको दूर करनेके लिये आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है, वह निम्नलिखित गाथाओंमें कहते हैं।२०४।

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थकी गाथायें अब कहते हैं :—

(इसप्रकार कर्तृत्वको सिद्ध करनेके लिये विवक्षाको बदलकर जो पक्ष कहा है, वह घटित नहीं होता।)

(इसप्रकार, यदि कर्मका कर्ता कर्म ही माना जाय तो स्याद्वादके साथ विरोध आता है; इसलिये आत्माको अज्ञान-अवस्थामें कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्मका कर्ता मानना चाहिये, जिससे स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता।)

भावार्थ :—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणीको भलीभाँति न समझकर सर्वथा एकान्तका अभिप्राय करते हैं और विवक्षाको बदलकर यह कहते हैं कि—"आत्मा तो भावकर्मका अकर्ता ही है, कर्मप्रकृतिका उदय ही भावकर्मको करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियोंमें भ्रमण—इन सबको, तथा जो कुछ शुभ-अशुभ भाव हैं इन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।" और वे मुनि शास्त्रका भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि—"वेदके उदयसे स्त्री-पुरुषका विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृतिके उदयसे परस्पर घात होता है।" इसप्रकार, जैसे सांख्यमतावलम्बी सब कुछ प्रकृतिका कार्य मानते हैं और पुरुषको अकर्ता मानते हैं उसीप्रकार, अपनी बुद्धिके दोषसे इन मुनियोंकी भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिये जिनवाणी तो स्याद्वादरूप होनेसे सर्वथा एकान्तको माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणीका कोप अवश्य होता है। जिनवाणीके कोपके भयसे यदि वे विवक्षाको बदलकर यह कहें कि—"भावकर्मका कर्ता कर्म है और अपने आत्माका (अर्थात् अपनेको) कर्ता आत्मा है; इसप्रकार हम आत्माको कंथचित् कर्ता कहते हैं, इसलिये वाणीका कोप नहीं होता;" तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्यसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिये उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं

है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्मको ही कहते हैं; इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा! तब फिर वाणीका कोप कैसे मिट गया? इसलिये आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको यथार्थ मानना है। आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वके सम्बन्धमें सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है :—

आत्मा सामान्य अपेक्षासे तो ज्ञानस्वभावमें ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावोंको जानते समय, अनादिकालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानके अभावके कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावोंको आत्माके रूपमें जानता है, इसलिये इसप्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामको करनेसे कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होनेसे आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता है, तब विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाममें ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहनेसे साक्षात् अकर्ता है॥३३२ से ३४४॥

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[अमी आर्हताः अपि] इस आर्हत् मतके अनुयायी अर्थात् जैन भी [पुरुषं] आत्माको, [सांख्याः इव] सांख्यमतियोंकी भाँति, [अकर्तारम् मा स्पृशन्तु] (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; [भेद-अवबोधात् अधः] भेदज्ञान होनेसे पूर्व [तं किल] उसे [सदा] निरन्तर [कर्तारं कलयन्तु] कर्ता मानो, [तु] और [ऊर्ध्वं] भेदज्ञान होनेके बाद [उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्] उद्धत [1]ज्ञानधाममें निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्माको [च्युत-कर्तृभावम् अचलं एकं परम् ज्ञातारम्] कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही [पश्यन्तु] देखो। (205)

भावार्थ :—सांख्यमतावलम्बी पुरुषको सर्वथा एकान्तसे अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा माननेसे पुरुषको संसारके अभावका प्रसंग आता है; और यदि प्रकृतिको संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुखदुःखादिका संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यतामें आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तुका स्वरूप ही नहीं है। इसिलये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—सांख्यमतियोंकी भाँति जैन आत्माको सर्वथा अकर्ता न मानें; जब तक स्व-परका भेदविज्ञान न हो तब तक तो उसे रागादिका—अपने चेतनरूप भावकर्मोंका—कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होनेके बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्वके भावसे रहित, एक ज्ञाता ही मानो। इसप्रकार एक ही आत्मामें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व—ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनोंका है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) माननेसे पुरुषको संसार-मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त माननेसे सर्व निश्चय-व्यवहारका लोप होता है।२०५।

यहाँ भी ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है।

श्लोकार्थ :—[इह] इस जगतमें [एकः] कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती तो) [इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा] इस आत्मतत्त्वको क्षणिक कल्पित करके [निज-मनसि] अपने मनमें [कर्तृ-भोक्त्रोः विभेदम् विधत्ते] कर्ता और भोक्ताका भेद करते हैं (—कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); [तस्य विमोहं] उनके

मोहको (अज्ञानको) [अयम् चित्-चमत्कारः एव स्वयम्] यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं [नित्य-अमृत-ओघैः] नित्यतारूप अमृतके ओघ(-समूह)के द्वारा [अभिषिंचं] अभिसिंचन करता हुआ, [अपहरति] दूर करता है। (206)

यहाँ क्षणिकवादी बौद्धमत को एकान्त क्षणिकवाद दर्शाया गया है। अगर कोई पर्याय के स्वतंत्र षट्कारक मानते हैं तो वह भी बौद्धमत जैसा क्षणिकवादी है। क्योंकि वह भी जाने-अनजाने में जीव को पर्याय जितना यानी कि क्षणिक ही मानता है या द्रव्य और पर्याय को दो भागरूपी मानते है जो अभेदद्रव्य में सम्भव ही नहीं। इसलिये अभेदद्रव्य के षट् कारक भी अभेद ही होते हैं।

भावार्थ :—वस्तुका स्वभाव जिनवाणीमें द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वादसे ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षासे तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षासे नित्य है। जीव भी वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायस्वरूप है। इसलिये, पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो कार्यको करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे कि—मनुष्यपर्यायने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्यायने भोगा। यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो, जो करता है वही भोगता है; जैसे कि—मनुष्यपर्यायमें जिस जीवद्रव्यने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्यने देवादि पर्यायमें स्वयं किये गये कर्मके फलको भोगा।

इसप्रकार वस्तुका स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनयको समझे बिना शुद्धनयके लोभसे वस्तुके एक अंशको (—वर्तमान कालमें वर्तती पर्यायको) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयके विषयका एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता—अन्य भोगता है, और जो भोगता है वही नहीं करता—अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्तके मतका नहीं है; क्योंकि, पर्यायोंका क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक अवस्थामें था, वहीं मैं तरुण अवस्थामें था और वही मैं वृद्ध अवस्थामें हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूपसे अनुभवगोचर है—स्वसंवेदनमें आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा समझना चाहिये॥३४५ से ३४८॥

श्लोकार्थ :—[आत्मानं परिशुद्धम् ईप्सुभिः परैः अन्धकैः] आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धोंने—[पृथुकैः] बालिशजनोंने (बौद्धोंने)—[काल-उपाधि-बलात् अपि तत्र अधिकाम् अशुद्धिम् मत्वा] कालकी उपाधिके कारण भी आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर [अतिव्याप्तिं प्रपद्य] अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर, [शुद्ध-ऋजुसूत्रे रतैः] शुद्ध ऋजुसूत्रनयमें रत होते हुए [चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य] चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, [अहो एषः आत्मा व्युज्झितः] इस आत्माको छोड़ दिया; [निःसूत्र-मुक्ता-ईक्षिभिः हारवत्] जैसे हारके सूत्र(डोरे)को न देखकर मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ देते हैं। (208)

यहाँ कहा गया है कि किसी को भी जैनदर्शन को एकान्त से ग्रहण नहीं करना चाहिये। एकान्त का आग्रह न रखें। अन्यथा वे जिनमतबाह्य ही है। कई लोगों को लगता है कि अपेक्षा से ग्रहण करने से श्रद्धा कमज़ोर हो जाती है। पर उन्हें यह नहीं पता कि एकान्त के आग्रह से आत्मज्ञान होना सम्भव ही नहीं है।

भावार्थ :—मात्र व्यवहार-दृष्टिसे ही भिन्न द्रव्योंमें कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चय-दृष्टिसे तो एक ही द्रव्यमें कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है।२१०।

श्लोकार्थ :—[ननु परिणाम एव किल विनिश्चयतः कर्म] वास्तवमें परिणाम ही निश्चयसे कर्म है, और [सः परिणामिन एव भवेत्, अपरस्य न भवति] परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीका ही होता है, अन्यका नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय नहीं होता); [इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति] और कर्म कर्ताके बिना नहीं होता, [च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न] तथा वस्तुकी एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होनेसे सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); [ततः तद् एव कर्तृ भवतु] इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्ता है (–यह निश्चयसिद्धांत है)।२११।

यहाँ कहा गया है कि किसी को भी जैनदर्शन को एकान्त से नहीं अपनाना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य अपना परिणाम स्वयं उत्पन्न करता है। अतः यदि कोई एकान्त से जीव को अपरिणामी या अकर्ता मानता है तो उसने स्याद्वादवाले जैनदर्शन को नहीं समझा है। वे जिनमतबाह्य ही है।

इससे यह समझना चाहिए कि—व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायकका कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता।२१३।

यहाँ कहा गया है कि किसी को भी जैनदर्शन को एकान्त से नहीं अपनाना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य अपना परिणाम स्वयं उत्पन्न करता है। पर के परिणाम का कर्ता नहीं बनता। यह कथन उपादान अपेक्षा से है। यदि यही कथन निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा में भी समझ लिया जाये और जहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध हो, वहाँ भी उसे अस्वीकार कर दिया जाये तो वह जीव नियम वे जिनमतबाह्य ही हैं| ज्ञानी स्याद्वादि होता है।

भावार्थ :—एक द्रव्यके परिणमनमें अन्य द्रव्यको निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्यने यह किया', वह व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही (कहा जाता) है; निश्चयसे तो उस द्रव्यमें अन्य द्रव्यने कुछ भी नहीं किया है। वस्तुके पर्यायस्वभावके कारण वस्तुका अपना ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।(214)

यहाँ कहा गया है कि किसी को भी जैनदर्शन को एकान्त से नहीं अपनाना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य अपना परिणाम स्वयं उत्पन्न करता है। पर के परिणाम का कर्ता नहीं बनता। यह कथन उपादान अपेक्षा से है। यदि यही कथन निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा में भी समझ लिया जाये और जहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध हो, वहाँ भी उसे अस्वीकार कर दिया जाये तो वह जीव नियम वे जिनमतबाह्य ही हैं| एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम में निमित्त हो सकता है, परन्तु उपादान कर्ता नहीं हो सकता। ज्ञानी स्याद्वादि होता है।

भावार्थ :—शुद्धनयसे आत्माका एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनयसे विचार किया जाये तो आत्माको परद्रव्यका ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्यके और आत्माके निश्चयसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावकका भेद कहना वह भी व्यवहार है, निश्चयसे भाव और भाव करनेवाला भेद नहीं है।

अब, व्यवहारनयके सम्बन्धमें। व्यवहारनयसे आत्माको परद्रव्यका ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्माके निमित्त-नैमित्तिकभाव है। ज्ञानादि भावोंका परद्रव्य निमित्त होता है, इसलिये व्यवहारीजन कहते हैं कि—आत्मा परद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको देखता है, परद्रव्यका श्रद्धान करता है, परद्रव्यका त्याग करता है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहारके प्रकारको जानकर यथावत् (जैसा कहा है उसीप्रकार) श्रद्धान करना ॥३५६ से ३६५॥

यहाँ कहा गया है कि चूँकि निश्चयनय अभेदात्मक है, इसलिये उसमें द्वैतभाव नहीं है। स्व-स्वामित्व भी द्वैतभाव होने के कारण व्यवहार है। जहाँ जहाँ द्वैतभाव है वहाँ व्यवहारनय जानें। अतः स्वात्मानुभूति अभेदात्मक होती है। वहाँ यदि कोई द्रव्य और पर्याय का भेद करता है, अर्थात् पर्यायरहित द्रव्य की प्राप्ति का विचार करता है, तो चूँकि वह भी एक व्यवहार है, इसलिये उसे स्वात्मानुभूति नहीं होती। यह समझना परम आवश्यक है।

श्लोकार्थ :—[**शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मतेः तत्त्वं समुत्पश्यतः**] जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें बुद्धिको लगाया है, और जो तत्त्वका अनुभव करता है, उस पुरुषको [**एक-द्रव्य-गतं किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति**] एक द्रव्यके भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। [**यत् तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदयः**] ज्ञान ज्ञेयको जानता है वह तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। [**जनाः**] जब कि ऐसा है तब फिर लोग [**द्रव्य-अन्तर-चुम्बन-आकुल-धियः**] ज्ञानको अन्य द्रव्यके साथ स्पर्श होनेकी मान्यतासे आकुल बुद्धिवाले होते हुए [**तत्त्वात्**] तत्त्वसे (शुद्ध स्वरूपसे) [**किं च्यवन्ते**] क्यों च्युत होते हैं? (215)

भावार्थ :—शुद्धनयकी दृष्टिसे तत्त्वका स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञानमें अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञानकी स्वच्छताका स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञानको स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञानमें अन्य द्रव्योंका प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूपसे च्युत होते हैं कि 'ज्ञानको परज्ञेयोंके साथ परमार्थ सम्बन्ध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्वसे क्यों च्युत हो रहे हैं? ।२१५।

यहाँ कहा गया है कि "ज्ञान ज्ञेयको जानता है वह तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है" इसलिये पर को जानना ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय कहा जाता है। बल्कि कई लोगों का मानना है कि ज्ञान पर को नहीं जानता। अपेक्षा से ज्ञान पर के आकाररूप से उत्पन्न अपने स्वयं के ज्ञानाकार को जानता है। अतः एकान्त से यह नहीं कहा जा सकता

कि ज्ञान पर को नहीं जानता। यहाँ कहा गया है कि "ज्ञान ज्ञेयको जानता है वह तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है" अतः किसी को भी जैनदर्शन के अनेकान्त को नहीं भूलना चाहिये।

भावार्थ :—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो किसी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जैसे चाँदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है, किन्तु पृथ्वी चाँदनीकी किंचित्मात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है, किन्तु ज्ञेय ज्ञानका किंचित्मात्र भी नहीं होता। आत्माका ज्ञानस्वभाव है, इसलिये उसकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता।२१६।

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्माके दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्योंमें नहीं है' ऐसा जाननेके कारण सम्यग्दृष्टिको विषयोंके प्रति राग नहीं होता; और रागद्वेषादि जड़ विषयोंमें भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशामें प्रवर्तमान जीवके परिणाम हैं।—इस अर्थकी गाथाएँ अब कहते हैं :—

[च] और [रागः द्वेषः मोहः] राग, द्वेष और मोह [जीवस्य एव] जीवके ही [अनन्यपरिणामाः] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [एतेन कारणेन तु] इस कारणसे [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादि विषयोंमें (भी) [न सन्ति] नहीं हैं।

(रागद्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मामें हैं और न जड़ विषयोंमें, वे मात्र अज्ञानदशामें रहनेवाले जीवके परिणाम हैं।)

यहाँ उपरोक्त ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है।

प्रश्न :—यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिको विषयोंमें राग किस कारणसे होता है? उत्तर :—किसी भी कारणसे नहीं होता। (प्रश्न :—) तब फिर रागकी खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है? (उत्तर :—) राग-द्वेष-मोह, जीवके ही अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीवका अज्ञान ही रागादिको उत्पन्न करनेकी खान है); इसलिये वे राग-द्वेष-मोह, विषयोंमें नहीं हैं, क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टिमें (भी) नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञानका अभाव है; इसप्रकार राग-द्वेष-मोह, विषयोंमें न होनेसे और सम्यग्दृष्टिके (भी) न होनेसे, (वे) हैं ही नहीं।

भावार्थ :—आत्माके अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्माके दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणोंका घात होता है, किन्तु गुणोंके घात होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्यके घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिका घात नहीं होता; इसलिये जीवके कोई भी गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं। ऐसा जानते हुए सम्यग्दृष्टिको अचेतन विषयोंमें रागादिक नहीं होते। राग-द्वेष-मोह, पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं, वे जीवके ही अस्तित्वमें अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गलद्रव्यमें हैं और न सम्यग्दृष्टिमें भी होते हैं, इसलिये शुद्धद्रव्यदृष्टिसे देखने पर वे हैं ही नहीं, और पर्यायदृष्टिसे देखने पर वे जीवको अज्ञान अवस्थामें हैं। ऐसा जानना चाहिये ।।३६६ से ३७१।।

यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के बीच के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है।

श्लोकार्थ :—[**इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति**] इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है; [**वस्तुत्व-प्रणिहित-दशा दृश्यमानौ तौ किंचित् न**] वस्तुत्वमें स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टिसे देखने पर (अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखने पर), वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं (-द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं)। [**ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु**] इसलिये (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे उन्हें (राग-द्वेषको) स्पष्टतया क्षय करो, [**येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति**] कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो। (218)

भावार्थ :—राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीवके अज्ञानभावसे होते हैं; इसलिये सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्मोंका नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है॥२१८॥

गाथार्थ :—[**अन्यद्रव्येण**] अन्य द्रव्यसे [**अन्यद्रव्यस्य**] अन्य द्रव्यके [**गुणोत्पादः**] गुणकी उत्पत्ति [**न क्रियते**] नहीं की जा सकती; [**तस्मात् तु**] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [**सर्वद्रव्याणि**] सर्व द्रव्य [**स्वभावेन**] अपने अपने स्वभावसे [**उत्पद्यंते**] उत्पन्न होते हैं। (372)

टीका :—और भी ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि-परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्योंका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है :— (372)

यहाँ यह बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव अपने स्वभाव से ही रागादि को उत्पन्न करता है। रागादि जीव का विभावस्वभाव जानना है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि वे जीव में रागादि को स्वीकार ही नहीं करते। अज्ञानी अज्ञान के कारण रागादिरूप से परिणमता है यह बात उन्हें समझनी चाहिये!

भावार्थ :—आत्माको रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनयसे विचार किया जाये तो अन्यद्रव्य रागादिका उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्यद्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता, यह नियम है। जो यह मानते हैं-ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि-'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं', वे नयविभागको नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीवके सत्त्वमें उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है-ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करें? राग-द्वेषका उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है॥३७२॥

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**इह**] इस आत्मामें [**यत् राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः भवति**] जो रागद्वेषरूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है [**तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति**] उसमें परद्रव्यका

कोई भी दोष नहीं है, [तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोधः सर्पति] वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है;—[विदितम् भवतु] इसप्रकार विदित हो और [अबोधः अस्तं यातु] अज्ञान अस्त हो जाये; [बोधः अस्मि] मैं तो ज्ञान हूँ। (220)

भावार्थ :—अज्ञानी जीव परद्रव्यसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर क्रोध करता है कि–'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ'। ऐसे अज्ञानी जीवको समझानेके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—राग-द्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानसे आत्मामें ही होती है और वे आत्माके ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिये इस अज्ञानको नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो; परद्रव्यको राग-द्वेषका उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो॥२२०॥

यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के बीच के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया गया है। जो निश्चयाभासी प्रचारकों के लिये विशेष ध्यान देने योग्य है। क्योंकि अनेक निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को यही उपदेश देते हैं कि "तुम शुद्धात्मा हो, तुम परम अकर्ता हो, तुम केवल साक्षी हो आदि।" यह उपदेश ही उनका अज्ञान उजागर करता है। क्योंकि उन्हें ज्ञानी और अज्ञानी की दशा में कोई अंतर ही नज़र नहीं आता। अज्ञानी अपने राग-द्वेष की जिम्मेदारी दूसरों के उपर डालता है वह उसका अज्ञान ही है। स्वयं की स्वतंत्रता का अस्वीकार ही है।

श्लोकार्थ :—[ये तु राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति] जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व (–कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते,) [ते शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुद्धयः] वे—जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अंध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनयके विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित अंध है ऐसे)—[मोह-वाहिनीं न हि उत्तरन्ति]—मोहनदीको पार नहीं कर सकते। (221)

भावार्थ :—शुद्धनयका विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराधसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्माका कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्माके ऐसे स्वरूपका ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्माको जिसप्रकार परिणमन कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदीको पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्यको नहीं हरा सकते), उनके राग-द्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करनेमें यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटानेमें भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरेके कराये ही राग-द्वेष होता हो तो पर तो राग-द्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँसे मिटा सकेगा? इसलिये राग-द्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं—इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है॥२२१॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मासे कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थानसे छूटकर उन्हें जाननेको नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हैं। इसप्रकार आत्मा

परके प्रति उदासीन (–सम्बन्ध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादिको अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है, यह उसका अज्ञान है। (373-382)

इस अर्थकी गाथा कहते हैं :—

यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया गया है। कार्य तो नियम से उपादान में ही होता है। बल्कि तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती है। नैमित्तिक उपादान तभी कार्य करता है जब उपादान उस निमित्त के अनुकूल हो। बल्कि हमेशा ऐसा नहीं होता कि निमित्त नैमित्तिक को प्रभावित करता ही है। इसलिये यहाँ कहा है कि परद्रव्य (निमित्त) जीव को राग कराता है ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि जब आत्मा गुणस्थानक आरोहण या किसी अन्य कारण से परद्रव्य हाज़िर होने के बावजूद राग नहीं करती तब उसे परद्रव्य निमित्त भी नहीं कहा जाता है। यही आत्मा की स्वतंत्रता को दर्शाता है। यदि आत्मा चाहे तो रागादि को छोड़कर वीतरागी बन सकती है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा विशेष ध्यान देने योग्य है। क्योंकि वे कभी-कभी यह मानने को तैयार ही नहीं होते कि अज्ञानी जीव राग कर रहा है। वे अज्ञानी जीव को भी स्वरूप में रहने का उपदेश देते हैं। जिसने स्वरूप को प्राप्त ही नहीं किया वह स्वरूप में कैसे रहेगा? चूँकि उस अज्ञानी को स्वरूप का कोई अनुभव नहीं होता इसलिये वह स्वरूप की मात्र कल्पना करके कल्पना में ही रहने का प्रयास करेगा। वह स्वरूप की कल्पना का ध्यान भी करेगा। यह उसे नियम से निश्चयाभासी बना देगा। और उनमें से कई तो स्वयं को ज्ञानी भी मान लेते हैं। क्योंकि वे कहते हैं कि हम आनन्द का अनुभव करते हैं। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि यह आनंद केवल मान्यता (conditioning) का है। यह वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल का प्रभाव है कि अब निश्चयाभासी लोगों की बहुतायत है। ज्ञानी तो दुर्लभ ही हैं। यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

गाथार्थ :—[बहुकानि] बहुत प्रकारके [निन्दितसंस्तुतवचनानि] निन्दाके और स्तुतिके वचनरूपमें [पुद्‌गलाः] पुद्‌गल [परिणमन्ति] परिणमित होते हैं; [तानि श्रुत्वा पुनः] उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव [अहं भणितः] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [रुष्यति तुष्यति च] रोष और संतोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है)। (373)

यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के बीच के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया गया है। यह निश्चयाभासी प्रचारकों द्वारा ध्यान देने योग्य है। अभिप्राय में वस्तुस्थिति का ज्ञान अनुभूति से ही आता है। इसलिये अभिप्राय की ही अहमियत है। वास्तव में अभिप्राय बदलने की ही साधना है। यह बात निश्चयाभासी उपदेशकोंको समझ नहीं आती।

भावार्थ :—शब्दादिक जड़ पुद्‌गलद्रव्यके गुण हैं। वे आत्मासे कहीं यह नहीं कहते, कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें ग्रहण करनेके लिये (–जाननेके लिये) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों तब आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है, इसप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूपसे ही जाननेवाले ऐसे आत्माको अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्‌मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपकको घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते। ऐसा वस्तुस्वभाव है, तथापि जीव शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंधको सूंघकर, रसका स्वाद लेकर, स्पर्शको छूकर, गुण-द्रव्यको जानकर, उन्हें अच्छा बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है॥३७३ से ३८२॥

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**पूर्ण-एक-अच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा अयं बोधो**] पूर्ण, एक, अच्युत और (–निर्विकार) ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा [**ततः इतः बोध्यात्**] उन (असमीपवर्ती) या इन (समीपवर्ती) ज्ञेय पदार्थोंसे [**काम् अपि विक्रियां न यायात्**] किंचित् मात्र भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता, [**दीपः प्रकाश्यात् इव**] जैसे दीपक प्रकाश्य (–प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थोंसे विक्रियाको प्राप्त नहीं होता। तब फिर [**तद्-वस्तुस्थिति-बोध-वन्ध्य-धिषणाः एते अज्ञानिनः**] जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव [**किम् सहजाम् उदासीनताम् मुंचन्ति, रागद्वेषमयीभवन्ति**] अपनी सहज उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेषमय क्यों होते हैं? (इसप्रकार आचार्यदेवने सोच किया है।) (222)

यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के बीच के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया गया है। अज्ञानी नौ पूर्वों की जानकारी पाकर भी स्वयं को भवपार नहीं करा सकता।

श्लोकार्थ :—[**राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसः**] जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभावसे रहित है, [**नित्यं स्वभाव-स्पृशः**] जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभावको स्पर्श करनेवाले हैं, [**पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकलाः**] जो भूतकालके तथा भविष्यकालके समस्त कर्मोंसे रहित हैं और [**तदात्व-उदयात् भिन्नाः**] जो वर्तमान कालके कर्मोदयसे भिन्न हैं, [**दूर-आरूढ-चरित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् विन्दन्ति**] वे (–ऐसे ज्ञानी–) अति प्रबल चारित्रके वैभवके बलसे ज्ञानकी संचेतनाका अनुभव करते हैं–[**चंचत्-चिद्-अर्चिर्मयीं**] जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और [**स्व-रस-अभिषिक्त-भुवनाम्**] जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रससे समस्त लोकको सींचा है। (223)

यहाँ ज्ञानी पुरुष की अनुभूति का वर्णन किया गया है। यदि कोई अज्ञानी बिना आत्मा की अनुभूति के ऐसी बात करता है तो वह स्वयं को धोखा दे रहा है।

भावार्थ :—चारित्रमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषोंसे आत्माको निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्यमें दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माको पृथक् करना सो आलोचना है। यहाँ निश्चयचारित्रको प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चयसे विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकालके कर्मोंसे अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्माका निरंतर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञानका अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतनासे (अर्थात् ज्ञानके अनुभवनसे) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है ॥३८३ से ३८६॥

यहाँ कहा गया है कि "जो आत्मा त्रिकालके कर्मोंसे अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है.." इसका मतलब है कि जो आत्मा सम्यक् ज्ञान-दर्शन-स्वरूपाचरणरूप चारित्र (स्वात्मानुभूति) से युक्त है, वह ज्ञानी है। यहाँ तो ज्ञानी की बात है। इसलिये, यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी लोगों को स्वात्मानुभूति के बिना भी स्वयं को शुद्धात्मा मानने का या साक्षीभाव में रहने का उपदेश दे रहे हैं, तो उनके लिये ज्ञानी और अज्ञानी के बीच के अंतर को समझना बहुत ज़रूरी है। अतः उन्हें समझना चाहिये कि अज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है। इसे समझते हुए उन्हें सबसे पहले अपना कल्याण करना आवश्यक है।

भावार्थ :—किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभवरूप स्वाद लिया करना वह उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञानके प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना वह ज्ञानका संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है। (224)

यह उपदेश ज्ञानी के लिये है। ताकि वह बार-बार स्वात्मानुभूति कर सके। इसलिये कोई भी निश्चयाभासी उपदेशक स्वयं के लिये या अज्ञानियों को उपदेश देने के लिये इसका उपयोग न करें। अन्यथा, इससे हित से अधिक अहित होगा। अज्ञानी यही करता है।

गाथार्थ :—[**कर्मफलम् वेदयमानः**] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलम्**] कर्मफलको [**आत्मानं करोति**] निजरूप करता (–मानता) है, [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिरसे भी [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकारके कर्मको—[**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको—[**बध्नाति**] बांधता है। (387)

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलम् मया कृतं जानाति**] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है,' [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिरसे भी [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकारके कर्मको—[**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको—[**बध्नाति**] बांधता है। (388)

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मफलको वेदन करता हुआ [**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**सुखितः दुःखितः च**] सुखी और दुःखी [**भवति**] होता है, [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिरसे भी [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकारके कर्मको—[**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको—[**बध्नाति**] बांधता है। (389)

यह अज्ञानी की बात है। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा।

श्लोकार्थ :—[**त्रिकालविषयं**] त्रिकालके (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल संबंधी) [**सर्व कर्म**] समस्त कर्मको [**कृत-कारित-अनुमननैः**] कृत-कारित-अनुमोदनासे और—[**मनः-वचन-कायैः**] मन-वचन-कायसे [**परिहृत्य**] त्याग करके [**परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे**] मैं परम नैष्कर्म्यका (–उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका) अवलम्बन करता हूँ। (इसप्रकार, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।) ॥२२५॥

ये ज्ञानी के भाव हैं। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा। इसलिये यदि स्वात्मानुभूति के बिना कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी को, स्वयं को शुद्धात्मा मानने का उपदेश देते हैं तो वे नहीं जानते कि अज्ञानी नयाभास के कारण स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही शुद्धात्मा मान लेता है। अतः उसे समझना चाहिये कि अज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है। इस बात को समझते हुए सबसे पहले अपना कल्याण करना उनके लिये बेहद ज़रूरी है। अज्ञानी बिना अनुभूति के शब्दों से ऐसा बोलता है तो भी उसको कल्याणरूपी फल नहीं मिलता। दुःख ही आता है।

श्लोकार्थ :—[यद् अहम् मोहात् अकार्षम्] मैंने जो मोहसे अथवा अज्ञानसे (भूतकालमें) कर्म किये हैं, [तत् समस्तम् अपि कर्म प्रतिक्रम्य] उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके [निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (–निजसे ही–) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव करता है)। (226)

भावार्थ :—भूत कालमें किये गये कर्मको ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करे, इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहनेका प्रयोजन इसप्रकार है :—जैसे, किसीने पहले धन कमाकर घरमें रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगनेका अभिप्राय नहीं रहा; उस समय, भूत कालमें जो धन कमाया था वह नहीं कमानेके समान ही है; इसीप्रकार, जीवने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फलमें लीन न हुआ, तब भूतकालमें जो कर्म बाँधा था वह नहीं बाँधनेके समान मिथ्या ही है।२२६।

ये ज्ञानी के भाव हैं। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा। अतः यदि कोई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी को बिना स्वात्मानुभूति के स्वयं को स्वरूप से भी शुद्धात्मा मानने का उपदेश देता है, तो वह यह नहीं जानता कि अज्ञानी नयाभास के कारण वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को शुद्धात्मा मान लेता है। अतः उसे समझना चाहिये कि अज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी को क्या उपदेश दिया जाता है। उनके लिये सबसे पहले इस "समयसार" शास्त्र को समझकर अपना कल्याण करना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि वे स्वयं अज्ञानी होते हुए भी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर थोपते हैं। अज्ञान का फल दुःख ही होता है।

श्लोकार्थ :—(निश्चय चारित्रको अंगीकार करनेवाला कहता है कि–) [मोह-विलास-विजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म] मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (उदयमें आता

हुआ) कर्म [सकलम् आलोच्य] उस सबकी आलोचना करके (–उन सर्व कर्मोंकी आलोचना करके–) [निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ। (227)

भावार्थ :—वर्तमान कालमें कर्मका उदय आता है, उसके विषयमें ज्ञानी यह विचार करता है कि—पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मै तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मका देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।२२७।

ये ज्ञानी के भाव हैं। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा। अज्ञान का फल दुःख ही होता है।

श्लोकार्थ :—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि :–) [भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय] भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान (–त्याग) करके, [निरस्त-सम्मोहः निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (–अपनेसे ही–) निरन्तर वर्त रहा हूँ। (228)

भावार्थ :—निश्चयचारित्रमें प्रत्याख्यान विधान ऐसा है कि–समस्त आगामी कर्मोंसे रहित, चैतन्यकी प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोगमें रहना सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूपमें रहता है।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिए:—व्यवहारचारित्रमें तो प्रतिज्ञामें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है। यहाँ निश्चयचारित्रकी प्रधानतासे कथन है इसलिये शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्व कर्म आत्माके दोष स्वरूप हैं। उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामोंका—तीनों कालके कर्मोंका—प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्माके ज्ञानश्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होनेके विधान द्वारा निष्प्रमाद दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करनेके सन्मुख होता है। यह, ज्ञानीका कार्य है।२२८।

यह ज्ञानी के भावों का वर्णन है। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा। अज्ञान का फल दुःख ही होता है।

श्लोकार्थ :—(शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला कहता है कि—) [इति एवम्] पूर्वोक्त प्रकारसे [त्रैकालिकं समस्तम् कर्म] तीनोंकालके समस्त कर्मोंको [अपास्य] दूर करके–छोड़कर, [शुद्धनय-अवलंबी] शुद्धनयावलंबी (अर्थात् शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला) और [विलीन-मोहः] विलीन मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं [अथ] अब [विकारैः रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम्] (सर्व) विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका [अवलम्बे] अवलम्बन करता हूँ।२२९।

यहाँ कहा गया है कि "शुद्धनयका आलम्बन करनेवाला कहता है कि...मैं विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका आलम्बन करता हूँ।" इससे यह समझा जाता है कि जो शुद्धनय का आलम्बन करनेवाला है वो शुद्धनय का अनुभव करनेवाला है। इसे मात्र शब्दों के तौर पर आलम्बन करनेवाला न समझें क्योंकि इसे विलीनमोह भी कहा है। एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझनी चाहिये कि किसी अज्ञानी को शुद्धनयावलंबी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके पास सम्यक्नय ही नहीं है। उसके पास नयाभास है। यहाँ ज्ञानी की बात है, इसी लिये उन्होंने अंत में कहा कि "मैं विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का आलम्बन लेता हूँ।" यहाँ आलम्बन लेता हूँ यानी अनुभव करता हूँ यह समझना। क्योंकि यह ज्ञानी का वर्णन है। आगे स्वानुभूति ही प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण है यह बताते है।

मैं (ज्ञानी होनेसे) मतिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ। (यहाँ 'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना। 'सं' उपसर्ग लगनेसे, 'संचेतना' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अर्थ यहाँ समस्त पाठोंमें समझना चाहिये।)।१। मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन–अनुभव करता हूँ।२। मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ।३। मैं मनःपर्यय- ज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ।४। मैं केवलज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ।५। (383-386)

यह ज्ञानी के भावों का वर्णन है। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा। अज्ञान का फल दुःख ही होता है।

(यहाँ भावनाका अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोगका अभ्यास करना है। जब जीव सम्यग्दृष्टि–ज्ञानी होता है तब इसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आने पर उनसे होनेवाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगोंके द्वारा कर्मचेतनाके त्यागकी भावना करके तथा समस्त कर्मोंका फल भोगनेके त्यागकी भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्माको ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्तअवस्थावाले जीवके ज्ञानश्रद्धानमें निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्तदशाको प्राप्त करके एकाग्र चित्तसे ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र आत्मामें उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभावसे श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। उस समय इस भावनाका फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्तकाल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न रहता है।) (383-386)

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :—(सकल कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञानचेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि:—[एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे [निःशेष-कर्म-फल-संन्यसनात्] समस्त कर्मके फलका संन्यास करनेसे [चैतन्य-लक्ष्म आत्मतत्त्वं भृशम् भजतः सर्व-क्रियान्तर-विहारनिवृत्त-वृत्तेः] मैं चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्वको अतिशयतया भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व

क्रियामें विहारसे मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्वके उपभोगसे अतिरिक्त अन्य जो उपयोगकी क्रिया—विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार-प्रवृत्ति नहीं करती); [अचलस्य मम] इसप्रकार आत्मतत्त्वके उपभोगमें अचल ऐसे मुझे, [इयम् काल-आवली] यह कालकी आवली जो कि [अनन्ता] प्रवाहरूपसे अनन्त है वह, [वहतु] आत्मतत्त्वके उपभोगमें ही बहती रहे (उपयोगकी प्रवृत्ति अन्यमें कभी भी न जाये)। (231)

भावार्थ :—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है। और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावनासे केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करनेका परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसीका साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्मको बाँधता है, वह मोक्षका उपाय नहीं है।२३१।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा होता है। साक्षी मात्र है। कुछ निश्चयाभासी प्रचारक अज्ञानियों को भी ऐसे उपदेश दे रहे हैं। यदि कोई इस "समयसार" शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना और कई अन्य लोगों का वर्तमान और अनन्त भविष्य बरबाद करना नहीं चाहते हैं, तो यहाँ बताई गयी बातों की सही समझ को ग्रहण करना आवश्यक है। उन्हें स्वयं पर दया लाते हुए सत्य को समझना चाहिये, सत्य उपदेश को आत्मसात करना चाहिये और दूसरों को भी वही सत्य उपदेश देना चाहिये।

श्लोकार्थ :—[पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विषद्रुमाणां फलानि यः न भुङ्क्ते] पहले अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षोंके फलको जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और [खलु स्वतः एव तृप्तः] वास्तवमें अपनेसे ही (–आत्मस्वरूपसे ही) तृप्त है, [सः आपात-काल-रमणीयम् उदर्क-रम्यम् निष्कर्म-शर्ममयम् दशान्तरम् एति] वह पुरुष, जो वर्तमानकालमें रमणीय है और भविष्यकालमें भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशांतरको प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार अवस्थामें कभी नहीं हुई थी, ऐसी भिन्न प्रकारकी कर्म रहित स्वाधीन सुखमयदशाको प्राप्त होता है)। (232)

भावार्थ :—ज्ञानचेतनाकी भावनाका फल यह है। उस भावनासे जीव अत्यन्त तृप्त रहता है—अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्यमें केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मोंसे रहित मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त होता है।२३२।

'पूर्वोक्त रीतिसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्यागकी भावना करके अज्ञानचेतनाके प्रलयको प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभावको पूर्ण करके, ज्ञानचेतनाको नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो'—इस उपदेशका दर्शक काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[अविरतं कर्मणः तत्फलात् च विरतिम् अत्यन्तं भावयित्वा] ज्ञानीजन, अविरतपनेसे कर्मसे और कर्मफलसे विरतिको अत्यन्त भाकर, (अर्थात् कर्म और कर्मफलके प्रति अत्यन्त विरक्त भावको निरन्तर भा कर, [अखिल-अज्ञान-संचेतनायाः प्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा] (इस भाँति) समस्त अज्ञानचेतनाके नाशको स्पष्टतया नचाकर, [स्व-रस-परिगतं स्वभावं पूर्णं

कृत्वा] निजरससे प्राप्त अपने स्वभावको पूर्ण करके, [स्वां ज्ञानसञ्चेतनां सानन्दं नाटयन्तः इतः सर्व-कालं प्रशमरसम् पिबन्तु] अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द पूर्वक नचाते हुए अबसे सदाकाल प्रशमरसको पिओ अर्थात् कर्मके अभावरूप आत्मिकरसको-अमृतरसको-अभीसे लेकर अनन्तकाल तक पिओ। इसप्रकार ज्ञानीजनोंको प्रेरणा की है)। (233)

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, "समयसार" शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। यहाँ भी इसी बात की पुष्टि होती है। ज्ञानी ज्ञाता-द्दष्टा होता है। साक्षी मात्र है। कुछ निश्चयाभासी प्रचारक अज्ञानियों को भी ऐसे उपदेश दे रहे हैं। यदि कोई इस "समयसार" शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना और कई अन्य लोगों का वर्तमान और अनन्त भविष्य बरबाद करना नहीं चाहते हैं, तो यहाँ बताई गयी बातों की सही समझ को ग्रहण करना आवश्यक है। उन्हें स्वयं पर दया लाते हुए सत्य को समझना चाहिये, सत्य उपदेश को आत्मसात करना चाहिये और दूसरों को भी वही सत्य उपदेश देना चाहिये। आगे ज्ञानी का तीनरूप से देखना कहा है, उसे अज्ञानी का न समझना।

[यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] (जीव) निरन्तर जानता है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञायकः जीवः तु] ज्ञायक ऐसा जीव [ज्ञानी] ज्ञानी (-ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, [ज्ञानं च] और ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं] ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिए। (403)

[बुधाः] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) [ज्ञानं] ज्ञानको ही [सम्यग्दृष्टिं तु] सम्यग्दृष्टि, [संयमं] (ज्ञानको ही) संयम, [अंगपूर्वगतम् सूत्रम्] अंगपूर्वगत सूत्र, [धर्माधर्मं च] धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) [तथा प्रव्रज्याम्] तथा दीक्षा [अभ्युपयान्ति] मानते हैं। (404)

यहाँ ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसे ही आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमेंसे कितने ही तो छद्मस्थके अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मोंके कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमेंसे कितने ही तो—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो—अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं, इसलिये उनके कहनेसे पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्यके निमित्तसे हुये हैं उन्हें कहनेसे परमार्थभूत आत्माका शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिए ज्ञानके कहनेसे ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञानको आत्माका लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानको ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षामें गुणगुणीका अभेद होनेसे, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षामें चाहे ज्ञान कहो या आत्मा—कोई विरोध नहीं है; इसलिये यहाँ ज्ञान कहनेसे आत्मा ही समझना चाहिए।

टीकामें अन्तमें यह कहा गया है कि—जो, अपनेमें अनादि अज्ञानसे होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, ऐसे स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गमें अपनेको परिणमित करके, सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावको प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे

साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिए। यहाँ 'देखना' तीन प्रकारसे समझना चाहिए। (१) शुद्धनयका ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानका श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकारका देखना है। वह अविरत आदि अवस्थामें भी होता है। (२) ज्ञान-श्रद्धान होनेके बाद बाह्य सर्व परिग्रहका त्याग करके उसका (-पूर्ण ज्ञानका) अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यानमें लेकर चित्तको एकाग्र-स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकारका देखना है। इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है। जहाँ तक उस प्रकारके अभ्याससे केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है। और (३) जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है, सो यह तीसरे प्रकारका देखना है। उस स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसलिए यह तीसरे प्रकारका देखना पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है॥३९० से ४०४॥

यहाँ कहा गया है कि "साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिये।" यह ज्ञानी की बात है। यहाँ देखना यानी अनुभव करना समझना है। इसलिये कोई भी निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानियों को ऐसा उपदेश न दें, उन्हें स्वात्मानुभूति के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। इसके लिये उन्हें वैराग्यादि आत्मा की योग्यतासहित आत्मसन्मुखता का उपदेश देना चाहिये। जिससे स्वयं का और अन्य अनेकों का कल्याण संभव हो सके। जो अभी निश्चयाभास के कारण असंभव ही है।

श्लोकार्थ :—[**संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः**] जिसने सर्व शक्तियोंको समेट लिया है (-अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका [**आत्मनि इह**] आत्मामें [**यत् सन्धारणम्**] धारण करना [**तत् उन्मोच्यम् अशेषतः उन्मुक्तम्**] वही छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है [**तथा**] और [**आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम्**] ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है। (236)

भावार्थ :—पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियोंका समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मामें धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागने योग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है।२३६।

यह ज्ञानी के भावों का वर्णन है। इसलिये यदि कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर लागू करने की कोशिश करता है, तो यह काम नहीं करेगा।

[**तस्मात् तु**] इसलिये [**यः विशुद्धः चेतयिता**] जो विशुद्ध आत्मा है [**सः**] वह [**जीवाजीवयोः द्रव्ययोः**] जीव और अजीव द्रव्योंमें (-परद्रव्योंमें) [**किंचित् न एव गृह्णाति**] कुछ भी ग्रहण नहीं करता [**किंचित् अपि न एव विमुञ्चति**] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता। (407)

गाथार्थ :—[**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकारके [**पाषण्डिलिङ्गानि वा**] मुनिलिंगोंको [**गृहीलिङ्गानि वा**] अथवा गृहीलिंगोंको [**गृहीत्वा**] ग्रहण करके [**मूढाः**] मूढ (अज्ञानी) जन [**वदन्ति**] यह कहते हैं कि [**इदं लिङ्गम्**] यह (बाह्य) लिंग [**मोक्षमार्गः इति**] मोक्षमार्ग है। (408)

[तु] परन्तु [लिङ्गं] लिंग [मोक्षमार्गः न भवति] मोक्षमार्ग नहीं है; [यत्] क्योंकि [अर्हन्तः] अर्हन्तदेव [देहनिर्ममाः] देहके प्रति निर्मम वर्तते हुए [लिङ्गं मुक्त्वा] लिंगको छोड़कर [दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही सेवन करते हैं। (409)

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि मूढजन अर्थात् अज्ञानी बाह्यलिंग की ही महत्ता गाते हैं। और इसी लिये वे इसमें फँसते हैं। वे इसे ही मोक्ष का मार्ग मान लेते हैं। उनमें से कई तो चौथे गुणस्थान में स्वात्मानुभूति भी नहीं मानते। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होता है यह नहीं मानते। अतः वे केवल देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की श्रद्धा मात्र से ही अपने को सम्यग्दृष्टि मान लेते हैं जो उनके सम्यग्दर्शन में ही बाधक बनता है। क्योंकि वे भ्रम से ही संतुष्ट हैं इसलिये स्वात्मानुभूति के लिये कभी प्रयास ही नहीं करते। बल्कि वे इसका विरोध करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं अपनी मुक्ति के मार्ग में रोड़ा बन जाते हैं। यह इस वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल की सबसे बड़ी करुणाजनक बात यह है कि लोग धर्म के नाम पर स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा दे रहे हैं। व्यवहाराभासी जीवों को यह समझ ग्रहण करके द्रव्य-चारित्र का आग्रह तजकर सबसे पहले आत्मानुभूति के लिये प्रयास करना चाहिये!

टीका :—कितने ही लोग अज्ञानसे द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिंगको ही ग्रहण करते हैं। यह (-द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अर्हन्तदेवोंके, शुद्धज्ञानमयता होनेसे द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरके ममत्वका त्याग होता है इसलिये, शरीराश्रित द्रव्यलिंगके त्यागसे दर्शनज्ञानचारित्रकी मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रको मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते हुए देखे जाते हैं)। (408-409)

भावार्थ :—यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्षका कारण होता तो अर्हन्तदेव आदि देहका ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन क्यों करते? द्रव्यलिंगसे ही मोक्ष प्राप्त कर लेते! इससे यह निश्चय हुआ कि—देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ॥४०८-४०९॥

अब, यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है—यह सिद्ध करते हैं) :—

गाथार्थ :—[पाषण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि] मुनियों और गृहस्थके लिंग (-चिह्न) [एषः] यह [मोक्षमार्गः न अपि] मोक्षमार्ग नहीं है; [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्रको [जिनाः] जिनदेव [मोक्षमार्गं ब्रुवन्ति] मोक्षमार्ग कहते हैं। (410)

टीका :—द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य हैं। (410)

जो आत्मा सम्यक् ज्ञान-दर्शन-स्वरुपाचरण चारित्र (स्वात्मनुभूति) से युक्त है वह ज्ञानी है। उसे मोक्षमार्ग है। बल्कि जो इस स्वात्मानुभूति से रहित है वह अज्ञानी है। अतः वह चाहे बाह्यचारित्र धारण करे, परन्तु इससे वह मोक्षमार्ग पर है ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग आत्माश्रित होने के कारण स्वद्रव्य है यानी कि स्वद्रव्य की अनुभूति के बिना इसका अस्तित्व ही नहीं है यह समझना आवश्यक है।

भावार्थ :—जो मोक्ष है सो सर्व कर्मोंके अभावरूप आत्मपरिणाम (–आत्माके परिणाम) हैं, इसलिये उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माके परिणाम हैं; इसलिये निश्चयसे वही मोक्षका मार्ग है। जो लिंग है सो देहमय है; और जो देह है वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये आत्माके लिये देह मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थसे अन्य द्रव्यको अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता ऐसा नियम है ॥४१०॥

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इसप्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिए—यह उपदेश है :—

गाथार्थ :—[**तस्मात्**] इसलिये [**सागारैः**] सागारों द्वारा (–गृहस्थों द्वारा) [**अनगारकैः वा**] अथवा अणगारोंके द्वारा (–मुनियोंके द्वारा) [**गृहीतानि**] ग्रहण किये गये [**लिङ्गानि**] लिंगोंको [**जहित्वा**] छोड़कर, [**दर्शनज्ञानचारित्रे**] दर्शनज्ञानचारित्रमें—[**मोक्षपथे**] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें—[**आत्मानं युंक्ष्व**] तू आत्माको लगा। (411)

यहाँ कहा गया है कि "...लिंगोंको छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्रमें जो कि मोक्षमार्ग है उसमें तू आत्माको लगा।" उसका अर्थ यह है कि स्वयं को शरीर मानना छोड़कर यानी बाह्यलिंगरूप मानना छोड़कर स्वयं को शुद्धात्मा के रूप में अनुभव करके उससे जुड़ जाओ। अर्थात् सम्यक् ज्ञान-दर्शन-स्वरूपाचरण चारित्ररूप (स्वानुभूतिरूप) आत्मा जो सच्चा मोक्षमार्ग है, उससे जुड़ें। उसी से कल्याण होगा।

टीका :—क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिए समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रमें ही, वह (दर्शनज्ञानचारित्र) मोक्षमार्ग होनेसे, आत्माको लगाना योग्य है—ऐसी सूत्रकी अनुमति है। (411)

भावार्थ :—यहाँ द्रव्यलिंगको छोड़कर आत्माको दर्शनज्ञानचारित्रमें लगानेका वचन है वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावकके व्रतोंके छुड़ानेका उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगका पक्ष छुड़ानेका उपदेश दिया है कि—भेखमात्रसे (वेशमात्रसे, बाह्यव्रतमात्रसे) मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्माके परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वही है। व्यवहार आचारसूत्रके कथनानुसार जो मुनि-श्रावकके बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहारसे निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं; उन व्रतोंको यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतोंका भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्गमें लगनेसे मोक्ष होता है, केवल वेशमात्रसे–व्रतमात्रसे मोक्ष नहीं होता ॥४११॥

गाथार्थ :—(हे भव्य !) [**मोक्षपथे**] तू मोक्षमार्गमें [**आत्मानं स्थापय**] अपने आत्माको स्थापित कर, [**तं च एव ध्यायस्व**] उसीका ध्यान कर, [**तं चेतयस्व**] उसीको चेत–अनुभव कर [**तत्र एव नित्यं विहर**] और उसीमें निरन्तर विहार कर; [**अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः**] अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर। (412)

टीका :—(हे भव्य !) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसारसे लेकर अपनी प्रज्ञाके (–बुद्धिके) दोषसे परद्रव्यमें—रागद्वेषादिमें निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही उसमेंसे पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें निरन्तर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ताके निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही ध्यान कर; तथा

समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ही चेत—अनुभव कर; तथा द्रव्यके स्वभावके वशसे (अपनेको) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा [अर्थात् परिणामीपनेके द्वारा तन्मय परिणामवाला (–दर्शनज्ञानचारित्रमय परिणामवाला) होकर] दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें ही विहार कर; तथा ज्ञानरूपको एकको ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होनेसे उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओरसे फैलते हुए समस्त परद्रव्योंमें किंचित् मात्र भी विहार मत कर। (412)

भावार्थ :—परमार्थरूप आत्माके परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वही मोक्षमार्ग है। उसीमें (–दर्शनज्ञानचारित्रमें ही) आत्माको स्थापित करना चाहिए, उसीका ध्यान करना चाहिए, उसीका अनुभव करना चाहिए और उसीमें विहार (प्रवर्तन) करना चाहिए, अन्य द्रव्योंमें प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। यहाँ परमार्थसे यही उपदेश है कि—निश्चय मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहारमें ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए ।।४१२।।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :—[**दृग्-ज्ञप्ति-वृत्ति-आत्मकः यः एषः एकः नियतः मोक्षपथः**] दर्शनज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, [**तत्र एव यः स्थितिम् एति**] उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, [**तम् अनिशं ध्यायेत्**] उसीका निरन्तर ध्यान करता है, [**तं चेतति**] उसीको चेतता है—उसीका अनुभव करता है, [**च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति**] और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है [**सः नित्य-उदयं समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति**] वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समयके सारको (अर्थात् परमात्माके रूपको) अल्प कालमें ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है। (240)

भावार्थ :—निश्चयमोक्षमार्गके सेवनसे अल्प कालमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह नियम है।२४०।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, “समयसार” शास्त्र में अधिकांश बातें ज्ञानी की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। निश्चयमोक्षमार्ग यानी आत्मानुभूति। यहाँ ज्ञानी के लिये उपदेश है। कुछ निश्चयाभासी प्रचारक अज्ञानियों को भी ऐसे उपदेश दे रहे हैं। यदि कोई इस “समयसार” शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना और कई अन्य लोगों का वर्तमान और अनन्त भविष्य बरबाद करना नहीं चाहते हैं, तो यहाँ बताई गयी बातों की सही समझ को ग्रहण करना आवश्यक है। उन्हें स्वयं पर दया लाते हुए सत्य को समझना चाहिये, सत्य उपदेश को आत्मसात करना चाहिये और दूसरों को भी वही सत्य उपदेश देना चाहिये। निश्चयाभास से तो अनंतकाल तक भी कल्याण नहीं होता।

श्लोकार्थ :—[**ये तु एनं परिहृत्य संवृति-पथ-प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंङ्गे ममतां वहन्ति**] जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहारमोक्षमार्गमें स्थापित अपने आत्माके द्वारा द्रव्यमय लिंगमें ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा), [**ते तत्त्व-अवबोध-च्युताः अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति**] वे पुरुष तत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे रहित होते हुए अभी तक समयके सारको (अर्थात् शुद्ध आत्माको) नहीं देखते—अनुभव नहीं करते। वह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा कैसा है ? [**नित्य-उद्योतम्**]

नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदयका नाश नहीं कर सकता), [अखण्डम्] अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदिके निमित्त खण्ड नहीं होते), [एकम्] एक है (अर्थात् पर्यायोंसे अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्वको नहीं छोड़ता), [अतुल-आलोकं] अतुल (–उपमारहित) प्रकाशवाला है, (क्योंकि ज्ञानप्रकाशको सूर्यादिके प्रकाशकी उपमा नहीं दी जा सकती), [स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं] स्वभावप्रभाका पुंज है (अर्थात् चैतन्यप्रकाशका समूहरूप है), [अमलं] अमल है (अर्थात् रागादि-विकाररूपी मलसे रहित है)।

(इसप्रकार, जो द्रव्यलिंगमें ममत्व करते हैं उन्हे निश्चय-कारणसमयसारका अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसारकी प्राप्ति कहाँसे होगी?)।२४१।

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जो द्रव्यलिंगमें ममत्व करते हैं उन्हें निश्चय-कारणसमयसारका अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसारकी प्राप्ति कहाँसे होगी?" अर्थात् जो मूढजन अर्थात् अज्ञानी लोग बाह्यलिंग का ही महत्व गाते हैं, उन्हें उसी में ममत्व होता है। और इसी लिये वे इसमें फँस जाते हैं। अज्ञानी इसे ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं। क्योंकि वे चौथे गुणस्थान में स्वात्मानुभूति भी नहीं मानते। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होता है यह भी नहीं मानते। अतः वे केवल देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की श्रद्धा मात्र से ही अपने को सम्यग्दृष्टि मान लेते हैं जो उनके सम्यग्दर्शन में ही बाधक बनता है। क्योंकि वे भ्रम से ही संतुष्ट हैं इसलिये स्वात्मानुभूति के लिये कभी प्रयास ही नहीं करते। बल्कि वे इसका विरोध करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं अपनी मुक्ति के मार्ग में रोड़ा बन जाते हैं। यह इस वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल की सबसे बड़ी करुणाजनक बात यह है कि लोग धर्म के नाम पर स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा दे रहे हैं। मोक्ष का सच्चा मार्ग सम्यक् ज्ञान-दर्शन-स्वरूपाचरण चारित्र (स्वात्मानुभूति) पर आधारित है। इसलिये व्यवहाराभासी जीवों को अपने अक्षय-कल्याण के लिये इसका स्वीकार करना परम आवश्यक है। और कोई रास्ता नहीं है, अन्यथा उनके लिये अनन्त दुःख इन्तज़ार कर रहे हैं।

गाथार्थ :—[ये] जो [बहुप्रकारेषु] बहुत प्रकारके [पाषण्डिलिङ्गेषु वा] मुनिलिंगोंमें [गृहिलिङ्गेषु वा] अथवा गृहस्थलिंगोंमें [ममत्वं कुर्वन्ति] ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्षका दाता है), [तैः समयसारः न ज्ञातः] उन्होंने समयसारको नहीं जाना।(413)

भावार्थ :—अनादिकालीन परद्रव्यके संयोगसे होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चयको वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसारको नहीं देखते।।४१३।।

यहाँ कहा गया है कि "...जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चयको वे नहीं जानते" इसलिये कोई इसे मात्र शब्दरूप से जानना न समझें। वास्तव में जिसे जानना कहा है वह वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मा के द्वारा आत्मसन्मुखतापूर्वक जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे जानना आवश्यक है। इसी लिये उन्होंने आगे कहा कि "ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसारको नहीं देखते।" इसलिये यह जानना अनुभूति प्राप्त करा दे ऐसा होना चाहिये। यहाँ यह समझना बहुत ज़रूरी है कि जिसके पास निश्चयनय का ढेर सारा ज्ञान है, उससे उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं हो जाता। बल्कि वैराग्यादि योग्यताओं के साथ, आत्मसन्मुखतापूर्वक केवल निश्चयनय का यह ज्ञान कि "जो ज्ञाता है, वह मैं हूँ", केवल इतने से ज्ञान से ही भेदज्ञान हो सकता है। ऐसे बहुत से जीव हैं जिन्हें निश्चयनय का कोई विशेष ज्ञान नहीं है, ऐसे बहुत से जीवों को शुद्धात्मा का बोध भी हो सकता है, अर्थात् ऐसे बहुत से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। वे

शुद्धज्ञानमय समयसार का अनुभव करते हैं यानी देखते हैं। अतः यदि निश्चयाभासी उपदेशक आत्मज्ञान से रहित अज्ञानियों को भी स्वयं को स्वरूप से भी शुद्ध मानने का उपदेश दे रहे हैं, तो वे नहीं जानते कि ऐसे अज्ञानी लोग नयाभास के कारण वर्तमान पर्याय में ही स्वयं को शुद्ध मान लेते हैं। अतः उन्हें समझना चाहिये कि अज्ञानी को क्या उपदेश देना चाहिये और ज्ञानी को क्या उपदेश देना चाहिये। उसके लिये सबसे पहले इस "समयसार" शास्त्र की ऐसी बातों को समझकर अपना कल्याण करना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि वे स्वयं अज्ञानी होते हुए भी ज्ञानी के भावों को अपने ऊपर थोपते हैं।

श्लोकार्थ :—[व्यवहार-विमूढ-दृष्टयः जनाः परमार्थ नो कलयन्ति] जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहारमें ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थको नहीं जानते, [इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः तुषं कलयन्ति, न तण्डुलम्] जैसे जगतमें जिनकी बुद्धि तुषके ज्ञानमें ही मोहित है (–मोहको प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुषको ही जानते हैं, तंदुल (–चावल) को नहीं जानते। (242)

भावार्थ :—जो धानके छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हींको कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलोंको जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहारमें मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादिकी क्रियामें ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थको जाना नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्माके स्वरूपको जानते ही नहीं।२४२।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी लोग बाह्यलिंगरूप व्यवहार का ही महत्व गाते हैं। और इसी लिये वे इसमें फँसते हैं। वे इसे ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं। उनमें से कई तो चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मानुभूति भी नहीं मानते। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होता है इसे ही नहीं मानते। अतः वे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की श्रद्धामात्र से ही स्वयं को सम्यग्दृष्टि मान लेते हैं जो उनके सम्यदर्शन में बाधक बनता है। क्योंकि वे भ्रम से संतुष्ट हैं इसलिये शुद्धात्मानुभूति के लिये कभी प्रयास ही नहीं करते। बल्कि वे इसका विरोध करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं अपने मोक्ष के मार्ग में ही बाधक बन जाते हैं। यह इस वर्तमान हुंडा अवसर्पिणी काल की सबसे बड़ी करुणाजनक बात यह है कि लोग धर्म के नाम पर स्वयं को और कई अन्य लोगों को धोखा दे रहे हैं।

भावार्थ :—जो द्रव्यलिंगमें ममत्वके द्वारा अंध है उन्हें शुद्धात्मद्रव्यका अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहारको ही परमार्थ मानते हैं, इसलिये परद्रव्यको ही आत्मद्रव्य मानते हैं।२४३।

जिसे बाह्यलिंग का ममत्व है, उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि जिसे शुद्धात्मा का अनुभव होता है, उसे अनुभव से अधिक बाहर कुछ भी दिखाई नहीं देता। उसके लिये तो बार-बार स्वयं का अनुभव करना और उसी में बने रहना इससे बड़ा कोई धर्म ही नहीं है। अतः ऐसे जीव को बाह्यरूप से चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम के अनुसार चारित्र हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता परन्तु अभिप्राय में तो पूर्ण चारित्र होता ही है।

श्लोकार्थ :—[अतिजल्पैः अनल्पैः दुर्विकल्पैः अलम् अलम्] बहुत कथनसे और बहुत दुर्विकल्पोंसे बस होओ, बस होओ; [इह] यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि [अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्यताम्] इस एकमात्र परमार्थका ही निरन्तर अनुभव करो; [स्वरस-विसर-पूर्ण-

ज्ञान-विस्फूर्ति-मात्रात् समयसारात् उत्तरं खलु किञ्चित् न अस्ति] क्योंकि निजरसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (—परमात्मा) उससे उच्च वास्तवमें दूसरा कुछ भी नहीं है (—समयसारके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)। (244)

भावार्थ :—पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करना चाहिए; इसके अतिरिक्त वास्तवमें दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।२४४।

यहाँ कहा कि "इस एक परमार्थ को ही निरंतर अनुभव करो;" परमार्थ का अर्थ है शुद्धात्मा का ही अनुभव करना।

श्लोकार्थ :—[इति इदम् आत्मनः तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्थितम्] इसप्रकार यह आत्माका तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ—[**अखण्डम्**] कि जो (आत्माका) ज्ञानमात्रतत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारोंसे और प्रतिपक्षी कर्मोंसे यद्यपि खण्डखण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्रमें खण्ड नहीं है), [**एकम्**] एक है (अर्थात् अखण्ड होनेसे एकरूप है), [**अचलं**] अचल है (अर्थात् ज्ञानरूपसे चलित नहीं होता—ज्ञेयरूप नहीं होता, [**स्वसंवेद्यम्**] स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपनेसे ही ज्ञात होने योग्य है), [**अबाधितम्**] और अबाधित है (अर्थात् किसी मिथ्यायुक्तिसे बाधा नहीं पाता)। (246)

भावार्थ :—यहाँ आत्माका निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह है:—आत्मामें अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिये वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्माको पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं—किसी अवस्थामें होते हैं और किसी अवस्थामें नहीं होते, इसलिये वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्माका (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञानमें भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिये उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिये यहाँ इस ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्माको ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है, इसलिये इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या है, वे आत्मामें नहीं हैं, ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करनेसे तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका और वेदान्तियोंका मत आ जाता है; इसलिये ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्रायसे कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्माका—ज्ञानमात्रका—ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायोंके कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये, किन्तु मोक्षका साधन तो नहीं होता। इसलिये स्याद्वादसे यथार्थ समझना चाहिए।२४६।

यहाँ कहा गया है कि "ऐसे एकान्त अभिप्रायसे कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्माका-ज्ञानमात्रका ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; ...इसलिये स्याद्वादसे यथार्थ समझना चाहिये।" इतने शब्दों में इस "समयसार" शास्त्र का मर्म समझाया गया है। इस में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब तक निश्चयनय का या व्यवहार का कोई भी एकान्त हो तब तक शुद्धात्मानुभूति नहीं होगी। इसलिये इस शास्त्र को अनेकान्त से समझकर स्याद्वादपूर्वक कथन करना और अनुभव से मानना आवश्यक है। तभी कल्याण संभव होगा। यहाँ हमारे शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक अन्तर के सहज उद्‌गार लिखे गए हैं। यदि जिनवाणी के विरुद्ध हमारे द्वारा कुछ भी लिखा गया है तो त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

निश्चय-व्यवहार की यथार्थ सन्धि

लेखक: CA. जयेश शेठ, बोरिवली – www.jayeshsheth.com

1. हम लोग निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण से ही अनादि से संसार में रुल रहे हैं। वर्तमान में भी समाज की प्राय: यही स्थिति दिख रही है।

----

2. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हमें कहीं प्रवास में जाना होता है तब हम सिर्फ़ नक़्शा नहीं देखते। एक बार नक़्शे को समझ लेने के बाद हम प्रवास शुरु कर देते हैं। अगर प्रवास शुरु नहीं किया तो नक़्शा देखने का मक़सद पूरा नहीं होगा। नक़्शा निश्चय है और प्रवास व्यवहार।

----

3. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि दोनों का यथायोग्य प्रमाण में सेवन करना। किसी एक का भी अधिक मात्रा में सेवन करने से या किसी एक का भी पक्ष रखने से वह निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि नहीं बन पायेगी।

----

4. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हम जब सब्ज़ी बनाते हैं तब उसमें नमक उचित मात्रा में ही डालना होता है। अगर सब्ज़ी में नमक कम होगा तो वह फीकी लगेगी और ज़्यादा होगा तो वह खाने लायक ही नहीं रहेगी। नमक निश्चय है और सब्ज़ी व्यवहार। इसलिये समझना यह है कि अपनी साधना में निश्चय और व्यवहार का योग्य संयोजन आवश्यक है।

----

5. निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में निश्चय सब्ज़ी में नमक की भाँति योग्य मात्रा में ही होना आवश्यक है। कई लोग सिर्फ़ निश्चय को ही सच्चा मानकर और व्यवहार को झूठा (उपचरित) मानकर अकेले निश्चय का ही सेवन करते रहते हैं। यह इस हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि वे सब्ज़ी को छोड़कर अकेले नमक खाने की ही प्ररूपणा करते हैं। हम सोच भी नहीं सकते हैं कि उनकी क्या दशा होगी। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

6. वर्तमान में कई लोग अध्यात्म के नाम पर अकेले निश्चय का ही प्रतिपादन करते हैं और उसी से अनेकों की ज़िन्दगियों को बर्बाद करके उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये ज़िम्मेदार हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

7. प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में कितना निश्चय आवश्यक है?
उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझना अति आवश्यक है। शुद्धात्मा की अनुभूति से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन का सही और अनुभवसिद्ध मानक है। इसे समझना और ऐसा लक्ष्य तय करना अत्यन्त आवश्यक है।

----

8. यह वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि कई लोग निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का ही विरोध करते हैं और अपने ही मोक्षमार्ग—प्रवेश में बाधा बनते हैं। वे जीवनभर चारित्र की आराधना करके भी मोक्षमार्ग से वंचित रह जाते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

9. प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु आत्मस्वरूप की जानकारी कितनी आवश्यक है?
उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी आत्मस्वरूप की जानकारी होनी आवश्यक है। दरअसल अगर आत्मा में सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता होती है तभी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति होकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। तब उसे स्वभाव का आंशिक अनुभव भी होता है, यह समझना अति आवश्यक है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

10. प्रश्न: आप यह क्यों कह रहे हैं कि साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी ही आत्मस्वरूप की जानकारी आवश्यक है?
उत्तर: क्योंकि "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इस प्रकार की स्वरूप की जानकारी के बिना तो साधक को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु बिना आवश्यक योग्यता के कभी भी नहीं होता। यह बात एकदम पक्की है कि अधिकारीपन (पात्रता) पाये बिना कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन बहिरात्मभाव में कभी नहीं होता, उसके लिये आत्मसन्मुखता (पर-विमुखता) प्राप्त करना परम आवश्यक है।

----

11. प्रश्न: आत्मसन्मुखताप्राप्ति हेतु मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं परम अकर्ता हूँ इस प्रकार की आत्मस्वरूप की जानकारी की आवश्यकता क्यों नहीं है?
उत्तर: क्योंकि आत्मसन्मुखता परविमुखता से आती है और परविमुखता तो आत्महित सर्वोपरि के सिद्धान्त को आत्मसात करने पर ही आती है! आत्महित सर्वोपरि का सिद्धान्त बिना अपने बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/ मूल्याङ्कन के मानक) बदले समझ में नहीं आता। उसे समझने लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन आवश्यक है न कि आत्मस्वरूप की जानकारी क्योंकि हमने अनेकों बार नौ पूर्वों तक का अध्ययन किया है जिनमें आत्मस्वरूप की जानकारी का भण्डार भरा हुआ है मगर उससे भी हमारा कल्याण नहीं हुआ। बल्कि उससे तो स्वयं शुद्धात्मा होने का भ्रम (निश्चयाभास) भी हो सकता है। इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

----

12. प्रश्न: हमने तो सुना है कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु कल्पनाजनित आत्मस्वरूप में रमने की आवश्यकता है। आप मना क्यों कर रहे हैं?
उत्तर: मना इसलिये कर रहे हैं क्योंकि अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता है। इसलिये वह जब भी शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने का प्रयास करता है तब उसकी कल्पना अपनी पर्याय में ही करेगा। वह अपनी पर्याय को ही अपना त्रिकाली स्वरूप मानकर भ्रमवश उसी का वेदन करने का प्रयास करेगा। जबकि अभी पर्याय तो त्रिकाली स्वरूप जैसी है ही नहीं। इसलिये वह भ्रमवश जो शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है उस कल्पनाजनित भ्रम में रमने का ही प्रयास करेगा जो कि आत्मप्राप्ति में ज़रा भी

कार्यकारी नहीं है। इसे निश्चयाभास कहा जाता है। निश्चयाभास तो उसे भ्रम में ही रखने का काम करेगा जो कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। निश्चयाभास उसके सम्यक् पुरुषार्थ का छेदन कर देगा। निश्चयाभास के रहते परसन्मुखता कभी छूट ही नहीं सकती इसलिये हम अज्ञानी को स्वरूप के कल्पनाजनित भ्रम में रमने को मना कर रहे हैं।

----

13. कई लोग यह सोचकर कि हमारा व्यवहार तो ठीक है अब हमें सिर्फ़ निश्चय को ही ग्रहण करना शेष है, अकेले निश्चय का ही भरपूर सेवन करने लगते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि यदि आत्मानुभूति का लक्ष्य न हो तो व्यवहार भी व्यवहाराभास कहा जाता है। जिसे एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य हो उसके बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/ मूल्याङ्कन के मानक) अपने आप बदल जाते हैं। मूल्याङ्कन के बाँट और तराज़ू बदलने से साधक को बाहरी जगत का सब कुछ असार और निरर्थक लगने लगता है और वह स्वयमेव अपनी अत्यन्त मूल्यवान आत्मा के सन्मुख होने लगता है। आत्मप्राप्ति की यही रीति है। उसके लिये ढेर सारे निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, जिसने निश्चय नय को विपरीत रूप से ग्रहण किया हो उसे सम्यक् निश्चय समझना आवश्यक है।

----

14. सम्यक् निश्चय यानी आत्मस्वरूप का जो वर्णन है वह मैं अभी भी प्रकट (अनुभव) कर सकता हूँ, मगर अभी पर्याय में ही वैसा हूँ - ऐसा नहीं। अगर पहली कक्षा में पढ़नेवाला विद्यार्थी स्वयं को डॉक्टर मानने लगे तो फिर वह आगे पढ़ेगा ही क्यों? वह या तो पढ़ना ही छोड़ देगा या फिर पढ़ाई के प्रति निरुत्साहित हो जायेगा। यही हाल निश्चय को ग़लत ढंग से समझनेवालों का है। वे अपने को शुद्ध, अकर्ता, अभोक्ता, ध्रुव ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी, परमपुरुष, सिद्धसम, मुक्त मानने की बातें करते हैं। ऐसा करके वे लोग निश्चयाभासी बनकर अपनी इस ज़िन्दगी को बर्बाद करके अनन्तकाल तक अपने को संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

15. असल में अनेक शास्त्रों में जो भी निश्चयनय का विस्तार है, वह ज्ञानी के कल्लोल (आनन्द) के लिये है। वह विस्तार ज्ञानी को अपनी अनुभूति जाँचने के लिये

और सिद्धसम आत्मा में ठहर जाने की प्रेरणा देने के लिये है। अज्ञानी भी उसे पढ़कर ज्ञानी की दशा समझ सकते हैं मगर कई अज्ञानी स्वयं को वैसा मानने की भूल कर बैठते हैं। वे ऐसा ही प्रचार करके बहुतों की ज़िन्दगियाँ बर्बाद कर उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

16. कई लोग निश्चयनय का ही प्रचार-प्रसार करते देखे जाते हैं क्योंकि उन्हें उसके नुक़सान नहीं मालूम। वे स्वयं भी अज्ञानवश इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं इसलिये जाने-अनजाने में वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

17. कई लोग निश्चयनय से स्वयं को शुद्ध मानते हुए अपने राग-द्वेष के लिये स्वयं को ज़िम्मेदार न मानते हुए कर्मों को ही ज़िम्मेदार मानते हैं और स्वच्छन्दता से जीते हैं। ऐसी ग़लत प्ररूपणा से वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

18. शुद्ध निश्चयनय से जीव भगवान जैसा है। अगर हम अभी वर्तमान दशा (पर्याय) में ही भ्रमवश स्वयं को भगवान मानने लग जायें तो वह पहली कक्षा के छात्र द्वारा अपने को डॉक्टर मानने जैसा ही होगा। यह बात नहीं समझने से ही यह ग़लतफ़हमी फैल रही है। ऐसी ग़लत प्ररूपणा की वजह से लोग अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

----

19. शुद्ध निश्चयनय भगवान का स्वरूप बताने और हम भी वैसे बन सकते हैं यह बताने के लिये है। हम स्वरूप से अभी वैसे ही हैं कहने का अर्थ है कि हम भी वैसे बन सकते हैं, हममें वह सम्भावना विद्यमान है। शुद्ध निश्चयनय का मक़सद अज्ञानी को प्रोत्साहित करना, उसका लक्ष्य तय कराना तथा ज्ञानी को उसका बार-बार अनुभव कराना है।

20. कई लोग कहते हैं कि "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इत्यादि स्वरूप की जानकारी को घोंटने (बार-बार पक्का करने) से यानी उसका बार-बार मनन-चिन्तन करने से हमें उसकी प्राप्ति हो सकती है या तो उसकी प्राप्ति आसान बन जाती है। हम कहते हैं कि स्वरूप का मनन-चिन्तन करें या न करें लेकिन आप अगर सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेंगे तो आपके लिये स्वरूप की अनुभूति सरल हो जाती है। स्वरूप के अधिक मनन-चिन्तन से तो कभी-कभी भ्रम यानी निश्चयाभास होने का ख़तरा भी बना रहता है।

----

21. कई लोग हमें पूछते हैं कि मैं वर्तमान में भी स्वरूप से तो मैं शुद्ध ही हूँ न? तब हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूप से तो आप त्रिकाल शुद्ध ही हैं। उनको लगता है कि हम उनकी मान्यता का ही समर्थन कर रहे है क्योंकि उन्हें हमारे कथन का गूढ़ार्थ समझ में नहीं आता। जब हम कहते हैं कि स्वरूप से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध ही हैं तब हम त्रिकाली ध्रुव (शुद्ध निश्चयनय) की बात कर रहे हैं यानी शुद्ध द्रव्य की बात कर रहे हैं। जिसे वे भ्रम (कल्पना) से वर्तमान में अपनी स्थिति मान लेते हैं, उसे पर्याय में घटाते हैं। उन्हें त्रिकाली ध्रुव का अनुभव तो है नहीं इसलिये वे इस बात को वर्तमान में घटाकर वैसा, अपनी पर्याय में ही भ्रम (कल्पना) से मानने लग जाते हैं। अपने आप को वर्तमान में ही शुद्ध मानने लगते हैं, जो बहुत ही बड़ी भूल है। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

समयसार प्रश्नोत्तरी

लेखकः CA. जयेश शेठ, बोरिवली – www.jayeshsheth.com

1. प्रश्न – जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, तब द्रव्यकर्म को जीव के भावकर्म का निमित्त क्यों कहा जाता है?
उत्तर – जो भी द्रव्यकर्म हैं वे जीव के भूतकाल के भावों के निमित्त से ही बन्धे हैं। अर्थात् वे जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिनिधि हैं, प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये निश्चय से तो जीव के भूतकाल के भाव ही जीव के वर्तमान भावों के निमित्त हैं मगर व्यवहार से जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिबिम्बस्वरूप द्रव्यकर्मों को भी निमित्त कहा जाता है अथवा कहा जा सकता है। यहाँ व्यवहार का अर्थ असत्य (उपचार) नहीं समझना, यहाँ दो द्रव्य भिन्न होने से उनके भिन्नत्व को दर्शाने के लिये ही उसे व्यवहार कहा है। ज्ञातव्य है कि जीव के भाव, कर्मों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं इसी लिये उन्हें भावकर्म कहते हैं। वही भावकर्म नये कर्मों के बन्ध के निमित्त भी बनते हैं इस कारण से भी उन्हें भावकर्म कहते हैं। इसलिये जो लोग निश्चय-व्यवहार की योग्य सन्धि को नहीं समझते वे इसे दोनो में से किसी एकान्त से ही प्ररूपित करते हैं।

2. प्रश्न – जब हम एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानते हैं तब उन दोनों द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग नहीं बनेगा?
उत्तर – दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तभी तक ही रहता है जब तक उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल होता है। जब उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल नहीं रहता तब फिर उनके बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं रहता। इसलिये उन दो द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग कभी नहीं बनेगा। जैसे जीव राग के निमित्त से रागी बनता है यानी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है मगर जब कोई जीव साधनामग्न होकर गुणस्थानक आरोहण करते हुए दसवें गुणस्थानक से ऊपर चढ़ जाता है तब उन राग के निमित्तों के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा ही नहीं। इसलिये हमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से न डरते हुए तथा ग़लत निमित्तों से बचते हुए अपनी सम्यक् साधना पर ध्यान देना चाहिये।

3. प्रश्न – ज्ञेय में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?
उत्तर – यह सर्वविदित है कि जो परज्ञेय है वह जीव से भिन्न द्रव्य है मगर जो परज्ञेय जीव के लक्षणरूप ज्ञान का ज्ञेय बनता है, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है, या फिर दूसरे शब्दों में कहें, जब जीव पर को जानता है तब वह परज्ञेय जीव के ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है तब वह ज्ञान के आकाररूप होता है। जीव उसी स्वज्ञान के आकार को जानता है। जीव जैसे ही उस ज्ञान के आकार को गौण करता है यानी उससे अपना लक्ष्य हटाकर स्वज्ञान से अहं भाव-एकत्व स्थापित करता है तब उसे ज्ञानज्योति का यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

4. प्रश्न – नौ तत्त्वों में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?
उत्तर – जीव, अजीव (कर्म-नोकर्मादि), आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं भाव-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

5. प्रश्न – नौ तत्त्वों में आत्मा को आस्रव-बन्ध बताया है मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा में आस्रव-बन्ध हैं ही नहीं। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सत्य हैं मगर योग्य अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि यदि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण समझना है न कि चौबीस कॅरट वाला शुद्ध स्वर्ण। लेकिन हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण जैसी आस्रव-बन्धरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से आस्रव-बन्धरहित होना या न होना समझना चाहिये। और हमें अपना सारा पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से अपने आप को मुक्त समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

6. प्रश्न – आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्मों का कर्ता भी कहा है और भोक्ता भी। मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा कर्ता-भोक्ता है ही नहीं, वह तो परम अकर्ता-अभोक्ता है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उन अपेक्षाओं को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अपने विवेक (अनेकान्त) से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर कर्तृत्व-भोक्तृत्व न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से उत्खनित स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरटवाला शुद्ध स्वर्ण। हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण के समान कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित होना या न होना समझना चाहिये और हमें अपना सारा

पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से स्वयं को मुक्त और अकर्ता समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

7. प्रश्न – कई लोग पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानते हैं। फिर नौ तत्त्वों में कई लोग पुण्य को उपादेय और पाप को हेय क्यों बताते हैं?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर योग्य अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव होने से और आस्रव हेय होने से उस अपेक्षा से पुण्य और पाप दोनों को समानरूप से हेय कहा जा सकता है। मगर शास्त्रों में लिखा है कि पुण्य का फल शुभ होता है तथा पाप का फल अशुभ होता है। उस अपेक्षा से हम पुण्य को उपादेय और पाप को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः पाप छूटता है और फिर जब आत्मा अयोगी हो जाती है तब पुण्य भी छूट जाता है। न कि एकान्त से पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

8. प्रश्न – कई लोग शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय बताते हैं। कई लोग शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय बताते हैं क्योंकि शुभभाव से पुण्य और अशुभभाव से पाप बन्धते हैं। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि शुभभाव तथा अशुभभाव दोनों ही जीव के लिये आस्रव के कारण हैं और आस्रव हेय होने से दोनों को उस अपेक्षा से समानरूप से हेय बताया जा सकता है। मगर शास्त्र कहते हैं कि शुभभाव (पुण्य) का फल शुभ होता है और अशुभभाव (पाप) का फल अशुभ होता है। इस अपेक्षा से हम शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः अशुभभाव छूटता है और फिर जब आत्मा केवलज्ञानी हो जाती है तब शुभभाव भी छूट जाता है। अपेक्षा से शुद्धभाव में जाने के लिये ही शुभभाव को हेय बताया जाता है, न कि अशुभभाव में रहने के लिये। इस प्रकार एकान्त से शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय मानकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

9. प्रश्न – कई लोग आत्मा में राग-द्वेष के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा कभी रागी-द्वेषी नहीं होती, कभी राग-द्वेष नहीं करती। और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष करती है और उससे वह कर्मबन्ध भी करती है। तब सत्य क्या है?

उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर राग-द्वेष नहीं होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान राग-द्वेष रहित आत्मा कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न तो कहा जा सकता है न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में राग-द्वेष विद्यमान हैं इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से राग-द्वेष होना या न होना समझना चाहिये। और अपना सारा पुरुषार्थ राग-द्वेष को कम करते हुए मुक्ति पाने के लिये लगाना चाहिये। एकान्त से स्वयं को राग-द्वेष से मुक्त मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

10. प्रश्न – कई लोग आत्मा में विकारी पर्याय के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा उन विकारी पर्यायों से परे है। कुछ लोग कहते हैं कि विकारी पर्याय आत्मा में ही होते हैं और उनके निमित्त से ही कर्मबन्ध होता है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर विकारी पर्याय न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान विकारी पर्यायरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में विकारी पर्याय विद्यमान हैं इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से आत्मा में विकारी पर्याय होना या न होना समझना चाहिये और अपना पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में लगाना चाहिये। आत्मा की अन्य योग्यताएँ प्राप्त करके उन विकारी पर्यायों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है। एकान्त से स्वयं को विकारी पर्यायों से रहित मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकते रहना चाहिये।

11. प्रश्न – कई लोग पर्याय को द्रव्य से भिन्न मानते हैं, उसमें प्रदेश भेद भी मानते हैं। अन्य कई लोग अनुस्युति (continuity) से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर – वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। लोग उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसे क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं कह सकते। कई लोग उसे समुद्र और लहरों का उदाहरण देकर भिन्न बताने का प्रयास करते हैं मगर उनको यह पता होना चाहिये कि लहरों में समुद्र ही व्यक्त होता है, वही पानी है अर्थात् समुद्र स्वयं ही लहरों के रूप में व्यक्त हो रहा है। जैसे कि सोना स्वयं ही मुकुट के रूप में, कड़े के रूप में या अन्य किसी भी गहने के रूप में व्यक्त हो रहा है। वहाँ सोना और गहना भिन्न नहीं है, उसमें कोई भी प्रदेशभेद भी नहीं है। क्योंकि जितना क्षेत्र सोने (द्रव्य) का है, वह और उतना ही क्षेत्र उससे बने गहने (पर्याय) का भी है। इसलिये अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है। यानी एक ही वस्तु को देखने के तरीक़े से वही वस्तु द्रव्य या पर्याय जानने में आती है। जैसे गहना पर्याय है और यदि गहने को स्वर्णत्व की दृष्टि से देखें तो वही गहना सोना (द्रव्य) है। उसमें क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद मानना बहुत ही ज़्यादा ग़लत समझ है, जिससे हमें बचना चाहिये।

12. प्रश्न – कई लोग द्रव्य-गुण-पर्याय को तीन भिन्न सत् मानते हैं। वे मानते हैं कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है, उसे आत्मानुभूति कहते हैं। क्या यह सत्य है?

उत्तर – वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का भी है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उन्हें तीन भिन्न सत् नहीं कह सकते हैं। अपेक्षा से उन्हें भिन्न सत् अवश्य बता सकते हैं परन्तु वस्तुतः वे एक हैं, अभिन्न हैं। द्रव्य के वर्तमान रूप को पर्याय कहते हैं और द्रव्य के अभिन्न लक्षणों को गुण कहते हैं। अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है और उस द्रव्य के हर एक प्रदेश में सभी गुण मौजूद हैं। एक ही वस्तु को समझने के लिये उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद किये गये हैं। वे भेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसी अभेद आत्मा की अनुभूति भी तो अभेद ही होगी। इसलिये यह मानना कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है और उसे आत्मानुभूति कहते हैं, बहुत ही बड़ी भूल है। हमें इससे बचना चाहिये।

13. प्रश्न – कई लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता नहीं मानते। वे कहते हैं कि पर्याय का अपने स्वतन्त्र षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमन होता रहता है। और कुछ लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता मानते हैं और कर्मबन्ध भी उसी के निमित्त से होता है ऐसा मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर – यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों ने अच्छी तरह बताया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसमें क्षेत्र की अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं बता सकते। जब द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं तो उनके षट्कारक भी तो अभिन्न ही होंगे। जब तक हम आत्मा की अभेदता को नहीं समझेंगे तब तक आत्मानुभूति अशक्य ही है। क्योंकि अभेद आत्मा की ही अनुभूति होती है न कि भेदरूप (द्रव्य-पर्याय) या आधी (पर्याय से भिन्न द्रव्य की) आत्मा की। अनुभूति के समय पर्यायें गौण होकर द्रव्य में ही अन्तर्गर्भित हो जाती हैं। इसी तरह द्रव्य-पर्यायमय आत्मा अभेद हो जाती है न कि पर्यायरहित द्रव्य की अनुभूति से, जो कि आकाशकुसुम की भाँति असम्भव है। वास्तव में आत्मा ही कर्मों के निमित्त से उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है और उस आत्मा के परिणमन को निमित्त बनाकर ही कर्म बन्धते हैं। इस तरह संसारी आत्मा ही उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य वस्तुव्यवस्था से अभेद आत्मा के अभेद षट्कारक को समझना चाहिये, न कि द्रव्य-पर्याय में प्रदेशभेद मानकर दोनों के षट्कारक भिन्न समझना चाहिये।

14. प्रश्न – क्या निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है?
उत्तर – जी हाँ, निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है। निश्चय अर्थात अभेद और व्यवहार अर्थात भेद। निश्चयनय से आत्मा अपने भावों की कर्ता-भोक्ता है, परभाव की नहीं। इसलिये उसे अपनी विकारी पर्याय की भी कर्ता-भोक्ता मानना आवश्यक है। अन्यथा उस विकारी पर्याय का कर्ता-भोक्ता किसी अन्य द्रव्य को मानने का प्रसंग आ जायेगा जबकि अन्य द्रव्य को विकारी पर्याय का उपादान रूप से कर्ता-भोक्ता नहीं माना जा सकता। हाँ, उसे निमित्त रूप से कर्ता अवश्य मान सकते हैं। निश्चयनय से उपादान स्वयं ही परिणमता है, स्वयं ही अपने परिणामो का कर्ता है। इससे समझ में आता है कि निश्चयनय से आत्मा ही अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है।

15. प्रश्न – जब हमारा परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है तब पर्याय का क्या होता है? यानी पर्याय उसमें शामिल है या नहीं?
उत्तर – जब हमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्राप्त परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है यानी कि शुद्धात्मा की अनुभूति होती है तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् उस परमपारिणामिकभाव में अन्तर्गर्भित हो जाती है। इस तरह से अनुभूति सदैव अभेदद्रव्य की ही होती है न कि पर्यायरहित भेद की यानी खण्डित द्रव्य की। खण्डित द्रव्य की अनुभूति कभी नहीं हो सकती क्योंकि खण्डित द्रव्य होता ही नहीं है। हाँ, उसका भ्रम अवश्य होता है।

16. प्रश्न – कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है और वह उसका स्वभाव है। और कुछ लोग यह कहते हैं कि आत्मा निश्चय से स्व को ही जानती है, पर को तो व्यवहार (उपचार) से ही जानती है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से प्रथम दोनों ही बातें सच हैं और तीसरी बात में व्यवहार को उपचार न समझकर उसे भेदरूपी व्यवहार समझना चाहिये। अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से किसी एक बात को सच और दूसरी को झूठ मान लेते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है, इस अपेक्षा से यह कह सकते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती और मात्र अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है। वास्तव में स्व-पर को जानना आत्मा का स्वभाव होने से, आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा की पहचान होने से हम कह सकते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है। पर को जानते वख्त आत्मा पर को स्व से भिन्न जानती है। स्वयं ज्ञानाकाररूप होने के बावजूद वहाँ स्व-पर का भेद होने से उसे व्यवहार कहा जाता है (अभेद=निश्चय, भेद=व्यवहार)। न कि उपचारमात्र व्यवहाररूप। सबको अपनी-अपनी ग़लत समझ वस्तुव्यवस्था को यथायोग्य समझकर दूर कर देनी चाहिये और एकान्त से बचना चाहिये।

17. प्रश्न – कई लोग आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा कहकर अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं और सोचते हैं कि इस मान्यता से सम्यग्दर्शन हो जायेगा। क्या यह सत्य है?
उत्तर – आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है। इस अपेक्षा से आत्मा पर को नहीं जानती मगर अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है ऐसा कह सकते हैं। यह व्यवस्था होने के बावजूद जब हम उसे एकान्त से ऐसा मानकर चलते हैं तब हम अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं। यह सत्य है। मगर अज्ञानी जीव स्व को तो जानता ही नहीं। अगर वह यह मान्यता रखेगा कि आत्मा पर को नहीं जानती तब वह आत्मा के लक्षण को ही नकार देगा अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को, आत्मा की पहचान को ही नकार देगा। ऐसा मानकर आत्मा कैसे सम्यग्दर्शन यानी आत्मा का अनुभव कर पायेगी? अर्थात् सम्यग्दर्शन पाने की सम्भावना दुर्लभ और दुष्कर हो जायेगी। इसलिये आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन हो जायेगा यह बात सत्य नहीं है।

18. प्रश्न – कई लोग क्रमबद्धपर्याय के निर्णय को, उसके प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानते हैं। अन्य कई लोग क्रमबद्धपर्याय को नियतिवाद मानते हैं। सत्य क्या है?
उत्तर – भगवान के ज्ञान में तीनों काल की पर्यायें झलकती हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं। तभी तो वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनती हैं। केवल इसी अपेक्षा से क्रमबद्धपर्याय को सही कहा जा सकता है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय के प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन

मानना ग़लत होगा क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है न कि भगवान के ज्ञान का निर्णय। यदि हम ऐसा कहें कि वे पर्यायें केवली के ज्ञान के ज्ञेय बनी हैं इसलिये वैसी घटनेवाली हैं तो यह हमारी ग़लत समझ होगी। वे पर्यायें पाँच समवायपूर्वक ही वैसी घटनेवाली हैं इसलिये वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनी हैं, किसी अन्य कारण से नहीं। पाँचों समवायों में से नियति को तो हम जानते ही नहीं। न ही नियति हमारे ज्ञान का विषय है। हमारे हाथ में एकमात्र पुरुषार्थ ही है, वही प्रधान है। इसलिये हमारे लिये योग्य पुरुषार्थ करना ही उचित होगा क्योंकि भगवानने क्या देखा है यह हमें ज्ञात नहीं है। इसे हम अपेक्षा से नियति भी कह सकते हैं, क्रमबद्धपर्याय भी कह सकते हैं। परन्तु एकान्त से क्रमबद्धपर्याय को सही मानना अवश्य ही नियतिवाद कहलायेगा। भगवानने जो भी देखा है वह बिना पुरुषार्थ के तो होगा ही नहीं। इसलिये हमें अपना पूरा ध्यान योग्य पुरुषार्थ पर लगाना है न कि क्रमबद्धपर्याय पर जो हमें ज्ञात ही नहीं है। हाँ, पूरा ज़ोर लगाकर योग्य पुरुषार्थ करने के बाद जो भी परिणाम आता है उसे हमें अवश्य ही क्रमबद्धपर्याय (या नियति) मानकर स्वीकार लेना है। सच में तो क्रमबद्धपर्याय पाँचों समवायपूर्वक ही होता है यानी उसमें पाँचों समवाय समाहित होते हैं। भगवानने पाँचों समवाय देखे है, पाँचों समवाय पूर्वक ही पर्याय को देखी है।

19. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बतायी एकत्व-विभक्त आत्मा यानी क्या? ज्ञानी का किससे एकत्व, किससे विभक्त समझना चाहिये?
उत्तर – **'समयसार'** ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बनाने के लिये बतायी गयी है। जब कोई मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेषरूप परिणम रहा हो तब उस राग-द्वेषरूप परिणमित जीव में से (प्रमाण के द्रव्य में से) राग-द्वेष को गौण करते ही यानी विभक्त करते ही जो शेष जीवभाव है (परमपारिणामिकभाव है) उससे एकत्व करना है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है। परमपारिणामिकभाव में एकत्व और विभाव से विभक्त यानी विभाव को गौण करना। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह अपने त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये।

20. प्रबुद्ध जीवों को यह समझना चाहिये कि खीर के भगोने में एक बूँद भी विष गिर गया तो वह खीर खाने लायक नहीं रहती। इसी प्रकार अध्यात्ममार्ग में असत्य प्ररूपणा की ज़रा-सी बूँद भी पड़ जाये तो वह मार्ग साधक के लिये विषाक्त खीर के समान ज़हरीला हो जायेगा।

21. जब भी कोई कार्य होता है तो उसमें पाँचों समवायों का योगदान होता है। मुख्य-गौण न करते हुए एकान्त से किसी एक समवाय को उस समूचे कार्य की निष्पत्ति का श्रेय देना मिथ्यात्व होगा। इकट्ठा पाँचों समवायों को कार्यनिष्पत्ति का श्रेय देना सम्यक् होगा।

22. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं क्या? क्या ये सभी आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं?
उत्तर – पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि अवश्य ही आत्मा की अवस्था-विशेष हैं। आत्मा की अवस्था यानी आत्मा का वर्तमान अर्थात् आत्मा का विशेषभाव। कोई भी द्रव्य अपने वर्तमान के बिना नहीं होता। सो आत्मा भी अपने वर्तमान सहित ही होती है। इसलिये बेशक पाप (अशुभभाव), पुण्य (शुभभाव), आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि सभी आत्मा की अवस्थाएँ होने से आत्मा में ही हैं; उससे भिन्न क़तई नहीं है, यह समझना परम आवश्यक है। **'समयसार'** ग्रन्थ में इन सबको कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को इन सबसे भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है। आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। सम्यग्दृष्टि जीव परमपारिणामिक-भाव से एकत्व करता है और विभाव से विभक्त होता है यानी विभाव को गौण करता है। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने के लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह अपने को त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये। यही **'समयसार'** का सार है।

23. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं। तब क्या हमें मोक्ष के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही नहीं है?
उत्तर – पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि को **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को इन सबसे भेदज्ञान होके परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि ये सब आत्मा से भिन्न होने से अर्थात् आत्मा में नहीं होने से हमें किङ्कर्तव्यविमूढ होकर संसार में भटकना है। हर समय अशुभ से बचकर शुद्ध के लक्ष्य से शुभ में रहते हुए पहले आत्मप्राप्ति के लिये और बाद में आत्मस्थिरता के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही हमारा कर्तव्य है। मूढमति अज्ञानी जीव यह बात नहीं समझते हैं इसलिये वे अनादि से संसार में भटक रहे हैं। हमें इस रहस्य को भलीभाँति समझकर निरन्तर यथोचित पुरुषार्थ करना चाहिये।

24. प्रश्न – द्रव्यदृष्टि में पर्याय का क्या होता है? क्या पर्याय उसमें शामिल है?
उत्तर – जब हम द्रव्यदृष्टि से जीव को देखते हैं तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् द्रव्य में अन्तर्गर्भित हो जाती है। द्रव्य सदैव अपने वर्तमानसहित ही होता है, वह अपने वर्तमान के बिना तो अपना अस्तित्व ही गँवा बैठेगा, यानी कि द्रव्य ही नहीं रहेगा। इसलिये द्रव्य सदैव अभेद

ही होता है न कि भेदवाला यानी पर्यायरहित/खण्डित। खण्डित द्रव्य तो आकाशकुसुमवत होता है यानी केवल भ्रम ही होता है।

25. प्रश्न – पर्यायदृष्टि में द्रव्य का क्या होता है? यानी द्रव्य पर्यायदृष्टि में शामिल है या नही?
उत्तर – जब हम पर्यायदृष्टि से जीव को देखते है तब द्रव्य स्वयमेव गौण हो जाता है अर्थात् पर्याय में अन्तर्गर्भित हो जाता है। पर्याय यानी द्रव्य की वर्तमान अवस्था, वह बिना द्रव्य के कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती। इसलिये पर्याय सदैव द्रव्य की ही होती है न कि द्रव्यरहित भेदवाली, यानी खण्डित पर्याय। खण्डित पर्याय तो आकाशकुसुमवत होती है यानी केवल भ्रम ही होती है।

26. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा को अकर्ता कहा है और आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्ता कहा है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बाते सच हैं मगर अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ नयों का यथायोग्य ज्ञान न होने से पनपी है। वास्तव में संसारी आत्मा अपने भावकर्मों तथा अपने ज्ञान की कर्ता है और मोक्षस्थ आत्मा केवल अपने ज्ञान की कर्ता है। परन्तु **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारणविशेष से यानी मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव की स्वात्मानुभूति समझाने के लिये आत्मा को अकर्ता बताया है क्योंकि परमपारिणामिकभाव सामान्यभाव होने से परम अकर्ता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी **'समयसार'** पर रची अपनी **आत्मख्याति टीका** श्लोक २०५ में अज्ञानी को नियम से कर्ता कहा है, जबकि ज्ञानी को परम अकर्ता कहा है। इस तरह सम्यग्दृष्टि को कर्ताभाव से यानी विशेषभाव से भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है, आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

27. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा और क्रोधादि आस्त्रवों में विशेषान्तर जानने को कहा है, तो उनमें विशेषान्तर क्या है? उसे जानने का फल क्या है?
उत्तर – आत्मा का जो त्रिकाल स्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव है और आत्मा में होने वाले क्रोधादि आस्त्रव है वह आगन्तुक स्वभाव है यानी वह त्रिकाल नहीं है पर कुछ काल के लिये ही होता है। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव हर आत्मा में विद्यमान होता है परन्तु जो क्रोधादि आस्त्रवभाव हैं वे हर आत्मा में विद्यमान नहीं होते। अन्य रीति से कहें तो क्रोधादि आस्त्रव विशेषभाव हैं और त्रिकाली स्वभाव सामान्यभाव है। यह है आत्मा और क्रोधादि आस्त्रवों में विशेषान्तर, उसे समझकर आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित जिस जीव का आत्मा के त्रिकाल स्वभाव से एकत्व (अहं) होता है तब क्रोधादि आस्त्रव स्वतः गौण हो जाते हैं और वह जीव सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बन जाता है। यही आत्मा और क्रोधादि आस्त्रव के विशेषान्तर समझने का फल है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है।

समयसार के बारे में

लेखक: CA. जयेश शेठ, बोरिवली – www.jayeshsheth.com

1. समयसार ग्रन्थ में कहा है कि हमने अनादि से बन्धकथा कई बार सुनी है और सुनायी भी है परन्तु आत्मा के भेदज्ञान की कथा कभी नहीं सुनी। या तो उसका विचार ही नहीं किया या फिर उसका उल्टा ही विचार किया। अर्थात तत्त्व के विचार में विपरीतता ही रही है। जैसे कि किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से शुद्ध ग्रहण किया है और किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से अशुद्ध ग्रहण किया। वास्तव में आत्मा पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। बिना अपेक्षा समझे न तो समयसार ग्रन्थ समझ में आयेगा और न ही आत्मकल्याण हो पायेगा। यही अपनी अनादि की कहानी है।

2. राग-द्वेष की कथा, भक्तकथा, देशकथा, शौर्यकथा, विकथा आदि तो बन्धकथा हैं ही परन्तु यदि बिना मोक्ष के लक्ष्य से ज्ञानावरणादि कर्मों की कथा कर रहे हों तो उसे भी बन्धकथा में ही शामिल किया जा सकता है क्योंकि अगर हम यह जानकारी आत्मप्राप्ति यानी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये उपयोग में नहीं लाते तो हम अनादि के दु:खों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते यानी अनादि के कर्मों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये सभी मुमुक्षु जीवों को अपना पूरा पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में ही लगाना चाहिये।

3. समयसार ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा की बात की गयी है। यानी वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मा से एकत्व यानी मैंपन तथा पुद्गलकर्मों से और उन कर्मों के कारण होनेवाले अपने भावों से विभक्त यानी अन्यत्व यानी भेदज्ञान करना है। ऐसा करते ही योग्यताप्राप्त जीवों को आत्मानुभूति होती है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

4. समयसार ग्रन्थ में पर को दो भागों में बाँटा गया है - एक वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे कर्मों के कारण होनेवाले जीव के रागादि भाव। इन दोनों से जब जीव वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर भेदज्ञान करता है तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है। बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

5. समयसार ग्रन्थ में प्रमुखत: परम शुद्ध निश्चयनय के विषय यानी शुद्धात्मा का वर्णन है, उस शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। बाक़ी सभी वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे रागादि जीव के कर्मों के कारण होनेवाले भावों से भेदज्ञान कराया है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा शब्दों से कई बार भेदज्ञान करने की कोशिश करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

6. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इसलिये कहा है कि उसमें पहले से छठवें गुणस्थान तक होनेवाले प्रमत्तभाव, और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होनेवाले अप्रमत्तभाव भी नहीं हैं। कई लोग उसे पर्यायरहित द्रव्य भी कहते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से वस्तु अभेद होने के कारण से उसमें से पर्याय को निकालना शक्य ही नहीं है। पर्याय तो गौण करनी पड़ती है।

7. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इस अपेक्षा से आत्मा में रागादि विशेषभाव नहीं है ऐसा भी बताया है परन्तु यदि कोई जीव स्वयं को एकान्त से ऐसा रागादिरहित मानता है तो वो मिथ्यात्व में परिणमता है। इसलिये सभी को उसे जैसा यथातथ्य बताया है वैसा ही अनेकान्त से समझना है और मानना है।

8. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है क्योंकि वैसा ज्ञायकभाव ही अनुभूति का विषय है। आत्मानुभूति में कोई भी विशेषभाव नहीं होने से आत्मानुभूति निर्विकल्प होती है, उसे ही समयसार में शुद्धनय बताया है। उस शुद्धनय प्राप्त जीव को यानी सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीव को अभेद शुद्धात्मा ही उपादेय बताया है जो शुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय का आलम्बन लेने योग्य बताया है और अज्ञानी को आत्मानुभूति न होने के कारण व्यवहारनय से उपदिष्ट करने को कहा है क्योंकि उसे अभी तक शुद्धनय की प्राप्ति हुई नहीं है। इसलिए वह शुद्धनय का आलम्बन नहीं ले सकता। उसके लिये व्यवहारनय उपयोगी बताया है। इस बात को न समझने के कारण कई उपदेशक अज्ञानी को भी निश्चयनय का ही उपदेश देते हैं।

9. समयसार ग्रन्थ में आत्मा को पुद्गल कर्मों से, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भावकर्मों से और नोकर्मों से भिन्न बताया है क्योंकि वही जीव आत्मानुभूति का विषय है। पुद्गल कर्म और नोकर्म तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं परन्तु कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के रागादिभाव जीव में ही होते हैं। चूँकि वे रागादिभाव जीव के त्रिकालभाव नहीं हैं और आत्मानुभूति का विषय तो जीव का त्रिकालभाव ही होता है इसलिये उन भावकर्मों को उस अपेक्षा से जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है। इसलिये यह बात ज्ञानी की अपेक्षा से कही गयी है। यदि अज्ञानी इस बात का अनुभव न होने पर भी शब्दों से कहने लगता है और मानने लगता है तो यह उसका महामिथ्यात्व होगा, यह समझना परम आवश्यक है।

10. पुद्गल कर्म जीव के विशेषभावों में ही निमित्त बनते हैं न कि जीव के सामान्यभावों में और समयसार जैसे ग्रन्थ का हार्द है ज्ञानसामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा यानी शुद्धात्मा। समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः जीव के सभी विशेषभावों को अनात्मा कहा गया है क्योंकि उन विशेषभावों से भेदज्ञान

WWW.JAYESHSHETH.COM

करने से ही समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति होती है और समयसार में प्रमुखतः समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी का ही वर्णन है। इसलिये कर्ता-कर्म अधिकार में भी केवल उपादान की अपेक्षा से ही कर्ता-कर्म की बात कही है। निमित्त को कर्ता के रूप में नहीं स्वीकारा है।

11. कर्म पुद्गलवर्गणाओं से बने हैं इसलिये वे जड़ हैं, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव आत्मा के परिणमन होने से चेतन हैं और नोकर्म यानी जीव का शरीर, पत्नी, पुत्र, परिवार, घर, सम्पत्ति आदि जो जीव को कर्मों के कारण मिलते हैं, वे जड़, चेतन या मिश्र होते हैं। जब आत्मानुभूति होती है तब इन तीनों से परे शुद्धात्मा का अनुभव होता है। बिना आत्मानुभूति के कोई यदि स्वयं को शुद्धात्मा मानने लगता है तो उसे भ्रम होता है, उसे लगता है कि वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है। वास्तव में वह निश्चयाभासी है यानी उसे शुद्धनय का केवल भास होता है, अनुभूति नहीं। इसलिये सभी मुमुक्षुओं को पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये, स्वयं को शुद्धात्मा मान लेने का प्रयास नहीं करना चाहिये अन्यथा वे निश्चयाभासी ही होंगे।

12. जब किसी जीव को आत्मानुभूति होती है, तब उसे सामान्यभाव का यानी द्रव्यात्मा का यानी शुद्धात्मा का अनुभव होता है। तब उस जीव का मैंपन उस शुद्धात्मा से स्थापित होता है। वह शुद्धात्मा से मैंपन अनुभूति के काल में उपयोगरूप से होता है और बाद में जब तक सम्यग्दर्शन रहता है तब तक वह मैंपन लब्धरूप से होता है। इस तरह उस जीव को शुद्धात्मा से मैंपन कभी उपयोगरूप से और कभी लब्धरूप से होता है। जब उसे शुद्धात्मा से मैंपन लब्धरूप से होता है तब वह पर्याय का ज्ञाता होता है। इस प्रकार उस जीव को ज्ञाताद्रष्टा कहा जाता है। यदि कोई बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तो वह भ्रमित है।

13. जब कोई जीव बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तब वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। वास्तव में यदि वह अज्ञानी अध्यात्ममार्ग में प्रगति करना चाहता है तो उसे अपने वर्तमान परिणमन के प्रति उदासीन न रहते हुए उसे सत्यधर्म के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब हमें बुख़ार आता है तब हम उस स्थिति में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा नहीं रहते बल्कि हम उसका इलाज करते हैं। वैसे ही अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज करना चाहिये।

14. समस्त संसारी जीवों को सभी संयोग अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये सभी संसारी जीवों को कौनसे संयोग मिलेंगे उसमें वे पराधीन हैं, परवश हैं। परन्तु वे अपनी प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र हैं। इसी लिये जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति के लिये अध्यात्ममार्ग के अनुकूल अपने परिणमन का यथार्थ इलाज बारह भावना, चार भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), इत्यादि का आश्रय लेकर कर सकता है। इस प्रकार अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुसार यथार्थ इलाज करना चाहिये। "हम तो ज्ञाताद्रष्टा हैं" ऐसे भ्रम में रहकर मूढ़ नहीं बने रहना चाहिये।

15. कई लोग ज्ञाताद्रष्टा बने रहने का ध्यान या अभ्यास करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है। इसलिये तो समयसार ग्रन्थ में अज्ञानी को कर्ता बताया है और ज्ञानी को अकर्ता बताया है। जब अज्ञानी पर्याय का कर्ता होता है तब वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा कैसे बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। इसी लिये अज्ञानी के लिये ज्ञाताद्रष्टा रहने का ध्यान या अभ्यास भ्रम में ले जानेवाला बनता है और वह स्वयं के परिणमन का अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज भी नहीं कर सकता बल्कि वह केवल मूढ़ ही बना रहता है।

16. बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है। और ज्ञानी को केवल शुद्धात्मा का ही अनुभव होता है इसलिये ज्ञानी का मैंपन भी उस शुद्धात्मा में ही होता है और पर्याय का वह केवल ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी का सहज ही में ज्ञाताद्रष्टाभाव बना रहता है। इसलिये अज्ञानी को ज्ञाताद्रष्टा बनने का अभ्यास नहीं परन्तु आत्मानुभूति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे वह आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सके।

17. ज्ञानी का मैंपन केवल शुद्धात्मा में ही होने के कारण वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी को बन्धभाव में मैंपन न होने के कारण ज्ञानी को बन्ध नहीं होता ऐसा कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी बन्धभाव की पर्याय का कर्ता नहीं है केवल ज्ञाताद्रष्टा ही है। जबकि अज्ञानी को केवल पर्याय का ही अनुभव होने के कारण उसका मैंपन भी पर्याय में ही होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है यानी बन्ध का भी कर्ता होता है।

18. अनादि से मेरी ग़लती के कारण से ही मैं संसार में भटक रहा हूँ। अनादि से मैंने कभी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपनी आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये कहा जा सकता है कि अपने संसार और मोक्ष के लिये मैं ही स्वयं ज़िम्मेदार हूँ। यह समझ बनाकर अब सभी साधकों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति पाने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

19. ज्ञानी को सिर्फ़ शुद्धभाव का ही आदर होता है यानी केवल शुद्धात्मा में ही रहने का अभिप्राय होता है परन्तु जब तक वह शुद्धात्मा में नहीं रह सकता तब तक वह शुभभाव में रहता है। हालाँकि अज्ञानी को अभी तक शुद्धभाव का अनुभव ही नहीं है परन्तु उसे भी लक्ष्य में शुद्धभाव ही रखना चाहिये और जब तक उसे शुद्धभाव नहीं मिलता तब तक उसे केवल शुभभाव में ही रहना है। यह समझ नहीं होने के कारण कई अज्ञानी जीव शुभ और अशुभ को एक समान मानकर अशुभ में भी बिना कोई अफ़सोस के मज़ा लेते हुए रहते हैं जिसकी वजह से वे अनन्त संसार में भटकते हैं।

20. समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा का श्रद्धान न जाने हुए गधे के सींग पर श्रद्धान के समान होने के कारण सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। यानी वह श्रद्धान केवल कल्पना ही होता है। इसलिये आत्मा सधती नहीं, आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होने पर भी कई उपदेशक अज्ञानी को भी "मैं शुद्धात्मा हूँ" यह मानने को कहते हैं या जाप जपने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। बिना आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के और बिना आत्मसन्मुखता पाये आत्मानुभूति नहीं होती यानी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

21. जब तक जीव को आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक उस जीव को शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता केवल शाब्दिक ज्ञान ही होता है। शुद्धात्मा का शाब्दिक ज्ञान हमने कई बार पाया है परन्तु यदि अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं पाया तो मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं मिलता। शाब्दिक ज्ञान से तो कई बार जीव ठगा भी जाता है, उसे लगता है जैसे उसने आत्मप्राप्ति कर ली है परन्तु वास्तव में वह निश्चयाभासरूपी भ्रम में जी रहा है।

22. जिसे संसार में डूबे हुए जीव सुख मानते हैं, वास्तव में तो वह दुःख ही है क्योंकि वह सुख (सुखाभास) भी दुःखपूर्वक ही होता है। वैसा सुख भोगते हुए आकुलता का दुःख होता है, उस सुख को भोगने के बाद उसके अभाव का दुःख होता है और उस सुख को भोगते वक़्त बाँधे हुए पापों से भविष्य में भी दुःख मिलता है। ऐसे सुख को हम सुख कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिये सभी साधकों/मुमुक्षुओं को सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये उन्हें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे उन्हें आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त हो सके।

23. जैसे हिरण मरीचिका के पीछे भागता है, वैसे ही हम भी सुखाभास को सुख मानकर उसके पीछे अनादि से भाग रहे हैं। फलस्वरूप हमें अनन्त दुःखमय संसार ही मिला है। इसलिये अब हमें

इस सुखाभास को पहचानकर उसके पीछे भागना बन्द करके सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त कर सकें।

24. जानना-देखना आत्मा का लिंग है यानी आत्मा की पहचान है परन्तु जानने-देखने की क्रिया आत्मा के विशेषभाव में ही होती है, सामान्यभाव में नहीं। आत्मानुभूति केवल सामान्यभाव की ही होती है, विशेषभाव की नहीं। इसलिये आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा को समयसार ग्रन्थ में अलिंगग्राह्य बताया है क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

25. जीव और शरीर, वर्णादि का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध तो होता है परन्तु तादत्म्य सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे दोनों सिर्फ़ कुछ काल के लिये साथ रहते हैं, तीनों काल साथ नहीं रहते। अभव्य जीवों के भी शरीर के पुद्गल बदलते रहते हैं यानी वे एकमेवाद्वितीय नहीं हो जाते।

26. जीव और पुद्गल का अनादि से सम्बन्ध है इसलिये जीव को कई शास्त्रों में कथंचित् रूपी भी कहा है। यदि जीव को एकान्त से अरूपी मान लें तो उसका पुद्गल के साथ अनादि से बन्धन कैसे हो सकता है? इस अनादिबन्धन की अपेक्षा से जीव को कथंचित् रूपी और कथंचित् अरूपी कहा गया है। यह समझना आवश्यक है।

27. जीव के जो एकेन्द्रियादि, बादर-सुक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद बताये हैं वे केवल जीव के विशेषभाव ही हैं। उससे जीव की वर्तमान स्थिति, गति आदि बतायी जाती है। परन्तु ये सभी आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप होती है और ये सभी जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है कि ये सभी आत्मा नहीं हैं क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

28. समयसार में बताया है कि गुणस्थान पौद्गलिक मोहनीय कर्मों के उदय से बनते हैं तो वे जीव कैसे हो सकते हैं क्योंकि यदि वे अचेतन कर्मों के कार्य हैं तो अचेतन ही होंगे न? जीव का पौद्गलिक मोहनीय कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है इसलिये जब जीव अपनी योग्यता से गुणस्थानरूप से परिणमता है तब वे पौद्गलिक मोहनीय कर्म निमित्त बनते हैं। परन्तु गुणस्थान विशेषभाव होने के कारण आत्मानुभूति के विषय शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप ही होती है और गुणस्थान जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है गुणस्थान आत्मा नहीं है क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

29. समयसार ग्रन्थ में बताया है कि जब तक जीव आत्मा और आस्रव का भेद नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी क्रोधादिक आस्रव में प्रवृत्ति करता है। हमने कई बार शब्दों से तो आत्मा और आस्रव के भेद को जाना परन्तु शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को नहीं जाना इसी लिये हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं। यदि सिर्फ़ शब्दों से आत्मा और आस्रव के भेद को जान लेने से अपनी मुक्ति हो जाती तो हम अभी तक यहाँ नहीं होते, सिद्ध बन गये होते। अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को जानने के लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति द्वारा आत्मा और आस्रव के भेद को जानकर क्रोधादि आस्रवों से मुक्त हो सकें।

30. व्यवहार से भगवान ने चार शरण बताये हैं – अरिहन्त, सिद्ध, साधु और सत्यधर्म। निश्चय से जिसने अपनी आत्मा प्राप्त की है उसके लिये अपनी शुद्धात्मा ही शरण है। कई लोग पुण्य को ही धर्म मानते हैं परन्तु बिना आत्मानुभूति के लक्ष्यवाला पुण्य जीव को भवभ्रमण से छुड़ा नहीं सकता। इसलिये हम पुण्य को शरण नहीं मान सकते परन्तु आत्मानुभूति के लक्ष्यपूर्वक बँधा पुण्य मोक्षमार्ग में अवश्य ही सहायक हो सकता है।

31. अनादि से ही जीव के एक तरफ़ गहरी खाई है और दूसरी तरफ़ मोक्षमहल है। एक तरफ़ खाईवाली ढलान होने के कारण अनादि से जीव इस संसाररूपी खाई में गिरकर अनन्त दुःखों को झेल रहा है। अब उस जीव को तय करना है कि उसे क्या चाहिये? एक तरफ़ अनन्त दुःख हैं और दूसरी तरफ़ अनन्त सुख है। जीव अनादि से चाहता तो सुख है परन्तु संसार के लिये ही पुरुषार्थ करता रहता है, इसलिये अनन्त दुःख पाता है। अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिये उसे सबसे पहले संसार के सत्यस्वरूप को समझकर अपना बहिरात्मपन दूर करना है और वैराग्यपूर्वक आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करनी है।

32. अनादि से जीव सुख को बाहर ढूँढ़ता है जबकि जीव का सुख जीव के बाहर कैसे हो सकता है? जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी को बाहर ढूँढ़ता है वैसे ही जीव भी अपने भीतर मौजूद सुख को बाहर ढूँढ़ता है। जब कोई कुत्ता हड्डी चबाता है तब वह हड्डी के कारण निकले अपने ख़ून को हड्डी से निकला हुआ ख़ून समझता है। ठीक उसी प्रकार जीव भी अनादि से भीतर के सुख को बाहर से मिलनेवाला सुख मानता है और विषयों के पीछे भागकर अपना अनन्त काल दुःखमय बना लेता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

33. जीव चेतन है और कर्म अचेतन। मगर अनादि से दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहा है। यद्यपि कर्म जीव को कभी भी अचेतन नहीं कर सकते तथापि वे जीव के अनन्त दुःखों के निमित्त अवश्य बन सकते हैं। यही अनादि से होता आ रहा है। कर्म यानी जीव के भूतकाल के

अज्ञानयुक्त भाव ही उसके अनन्त दु:खों में निमित्त बनते हैं। इसलिये कर्मों को दोष न देते हुए अपना सत्यधर्म का पुरुषार्थ बढ़ाना ही दु:खों से मुक्ति का सही इलाज है।

34. कार्य सदा उपादान सदृश ही होता है। जैसा उपादान होता है वैसा ही कार्य होता है। जैसे स्वर्ण से गहने बनेंगे तो वे स्वर्णमय ही होंगे और लोहे से बनेंगे तो वे लौहमय ही होंगे। वैसे ही ज्ञान के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं परन्तु अज्ञानी की समझ की विपरीतता ऐसी है कि ज्ञान से भी ऐसे कार्य करवाती है कि अनन्त भविष्य दु:खमय हो जाये।

35. आत्मानुभूति सामान्यभाव में होती है, विशेषभाव में नहीं। सामान्यभाव निर्विकल्प होते हैं। नय विकल्पों में ही लगते हैं निर्विकल्प अवस्था में नहीं। इसलिये आत्मानुभूति निर्विकल्प तथा नयातीत होती है।

36. पाप और पुण्य अपेक्षा से समान होते हैं। इसलिये उन्हें समयसार में एक समान बताया है। पाप और पुण्य आस्रव की अपेक्षा से समान हैं क्योंकि दोनों आस्रव हैं। पाप और पुण्य बन्ध की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि दोनों का आत्मा के साथ बन्ध होता है। पाप और पुण्य जीव की स्वभावस्थिरता में बाधक होते हैं इसलिये भी समान हैं। पाप और पुण्य आत्मस्वभाव से विपरीतता की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि वे जीव के त्रिकालस्वभाव नहीं हैं, इसलिये उपादेय नहीं हैं। परन्तु इस समझ से विपरीत अर्थ ग्रहण करके, यानी पाप एवं पुण्य को समान रूप से हेय मानकर अगर कोई पुण्य को छोड़कर पाप में रहता है तो वह अनन्त काल के लिये दु:खों को आमन्त्रण देता है। ऐसा करना समझ की विपरीतता होगी…और यही हमारी अनादि की कहानी है।

37. कई लोग समयसार में बताये गये ज्ञानी को सातवें गुणस्थानस्थित मानते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये की आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिये समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी की बात कही है वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

38. कई लोग भूलवश शुद्धोपयोग को शुक्लध्यान मान लेते हैं जो कि आठवें गुणस्थान से ही शुरु होता है। वास्तव में शुद्धोपयोग सम्यक् ज्ञान है इसलिये वह चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को आत्मानुभूति के काल में होता है।

39. जो भी उपदेशक समयसार पर प्रवचन देते हैं वे प्राय: समयसाररूपी ध्येय का तो अच्छी तरह से वर्णन करते हैं, समझाते हैं। परन्तु प्राय: वे उस ध्येय को पाने के मार्ग के प्रति अनभिज्ञ होते हैं या लोगों को बताते नहीं हैं। क्योंकि जब कोई मुमुक्षु वैराग्यादि योग्यताओं को पाकर, इच्छाओं का

नाश करके आत्मसन्मुख होता है तब उसे समयसाररूप आत्मा सहज ही अनुभव में आती है। यही विधि है समयसार को पाने की यानी सम्यग्दर्शन को पाने की।

40. अनेक लोग समयसार में बताये गये स्वसमय जीव को सप्तमगुणस्थानस्थित जीव मानते हैं। यह समझ समयसार में ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहे जाने के कारण बनी है। लेकिन यहाँ केवल सामान्यभाव की बात की गयी है, न कि विशेषभाव की, अर्थात् पर्याय की या चारित्र की, क्योंकि समयसार में केवल सामान्यभाव, यानी द्रव्यात्मा को ही आत्मा कहा गया है, जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं। उन सभी गुणों में से मुख्य तीन गुण लेकर यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। उस द्रव्यात्मा में जो भी जीव स्थित होता है, उसे स्वसमय जीव कहा गया है, इसलिये उसे चतुर्थादिगुणस्थानस्थित जीव मानना चाहिये। दूसरी बात, समयसार में कई जगह स्वसमय जीव को ज्ञानी के रूप में भी वर्णित किया गया है, इसलिये हमें यह भी सोचना चाहिये कि आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिए समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी या स्वसमयस्थित जीव की बात है, वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

41. समयसार की सातवीं गाथा में कहा गया है कि "शुद्ध ज्ञायक में न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है।" वस्तुतः शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानी की अनुभूति का विषय है। शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानसामान्य भाव है, परमपारिणामिक भाव है, द्रव्यात्मा है। इसलिये इसमें पर्याय भी गौण है और गुणों के भेदरूप व्यवहार भी नहीं हैं, लेकिन इसमें सभी गुण अवश्य विद्यमान हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और शुद्ध ज्ञायक में सभी गुण विद्यमान होने के कारण उस जीव को स्वसमय जीव कहा जाता है, सम्यक् दृष्टि कहा जाता है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

– मुखपृष्ठ की समझ –

अपने जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो और उसके फलरूप अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही भावना।

JSBN

ISBN

ISBN 978-93-343-6995-3

9 789334 369953